विवेक-ज्योति

वर्ष ४०, अंक ११ नवम्बर २००२ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल ससाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

नवम्बर २००२

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४०
अंक ११

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(इक्कीसवीं तालिका)

८००. श्री सुनील कानोड़िया, नीउ रोड, अलीपुर, कोलकाता
८०१. स्वामी ज्ञानेन्द्रानन्द, रामकृष्ण मिशन, लखनऊ (उ.प्र.)
८०२. श्री दिलीप शान्ताराम देव, बानवड़ी, पुणे (महाराष्ट्र)
८०३. सुश्री डॉली पाठक, इन्दिरा नगर, लखनऊ (उ.प्र.)
८०४. राजकीय पुस्कालय, काशीपुर, उधमसिंहनगर (उत्तरां.)
८०५. श्रीमती विद्या मुरारी, धर्मशाला लाइन, पिथौरागढ़ (उत्त.)
८०६. श्रीमती गीता मर्थला, हलद्वानी, नैनीताल (उत्तरांचल)
८०७. जवाहर विद्यालय, पाचोड़, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
८०८. भीमाशंकर विद्यालय, बाहेगाँव, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
८०९. महात्मा फुले हाईस्कूल, पदमपुरा, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
८१०. मराठा हाईस्कूल, चौराह, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
८११. ज्ञानेश्वर विद्यालय, मकबरा रोड, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
८१२. विवेकानन्द कला व मा. विद्यालय, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
८१३. नाथ हाईस्कूल, पैठण, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
८१४. गजानन विद्यालय, हसनाबाद, जालना (महाराष्ट्र)
८१५. शाहू विद्यालय, उ.ना.बाड़ी, पैठण, औरंगाबाद (महारा.)
८१६. घृष्णेश्वर विद्यालय, खुल्दाबाद, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
८१७. श्री प्रभात कुमार वाजपेयी, बिलासपुर (छ.ग.)
८१८. श्रीमती ज्योति चुघ, मजलिस पार्क, दिल्ली
८१९. श्री राजकुमार धीवर, सेमरताल, बिलासपुर (छ.ग.)
८२०. श्री मानिकराव भाजीपाले, साईंनाथ नगर, भण्डारा (महा.)
८२१. मे. श्रीराम इन्डस्ट्रीज, गोधरा, पंचमहल (गुजरात)
८२२. श्री आर.के. मिश्रा, प्रिज्म सीमेन्ट कॉ., सतना (म.प्र.)
८२३. श्री तुलसीदास अ. सुन्दरानी, वनी, यवतमाल (महाराष्ट्र)
८२४. रामकृष्ण सारदा मिशन, खोंसा, तिरप (अरुणाचल प्र.)
८२५. श्री आनन्द स्वरूप अग्निहोत्री, कोटड़ा, उदयपुर (राज.)
८२६. श्रीमती शशीप्रभा बैद, लोअर परेल, मुम्बई
८२७. श्रीमती मनीषा बैद, पन्नमपल्ली नगर, कोचीन (केरल)
८२८. श्रीमती ऋतु अग्रवाल वर्धमान रोड, अलीपुर, कोलकाता
८२९. श्री दीपल कुमार अग्रवाल, आर.एन.गुहा रोड, कोलकाता
८३०. श्रीमती शालिनी चौहान, मॉडल टाउन, पानीपत (हरि.)
८३१. श्री अर्जुनलाल अग्रवाल, हबीब नगर, हैदराबाद (आन्ध्र)
८३२. श्री रघुनाथ सालवी, दक्षिण सुन्दरवास, उदयपुर (राज.)
८३३. श्री यशराज जितेन्द्र कु. जैन, पण्डरिया, कवर्धा (छ.ग.)
८३४. श्री विनय कुमार वर्मा, ज. म. सिंह रोड, देहरादून (उत्त.)
८३५. श्री शिवनाथ चटर्जी, विनोबा नगर, बिलासपुर (छ.ग.)
८३६. रामकृष्ण मिशन ग्रन्थालय, बार्टली रोड, सिंगापुर
८३७. श्री नन्दलाल टांटिया, ग्रेटर कैलास, नई दिल्ली
८३८. श्री एम.एल. मानवानी, रानीगंज, कानपुर (उ.प्र.)
८३९. श्री सतीश कुमार बंसल, शक्तिनगर, दिल्ली

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

विवेक-ज्योति के लिये अपनी रचना भेजते समय कृपया निम्न बातों पर ध्यान दें -

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषय पर रचनाओं को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। ऐसी हो कि पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो।

(३) लेख में उद्धृत श्लोकों आदि के सन्दर्भ का ठीक तथा समुचित विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा सम्भव हो तो उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(६) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो अथवा भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख जरूर करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों मे व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – १
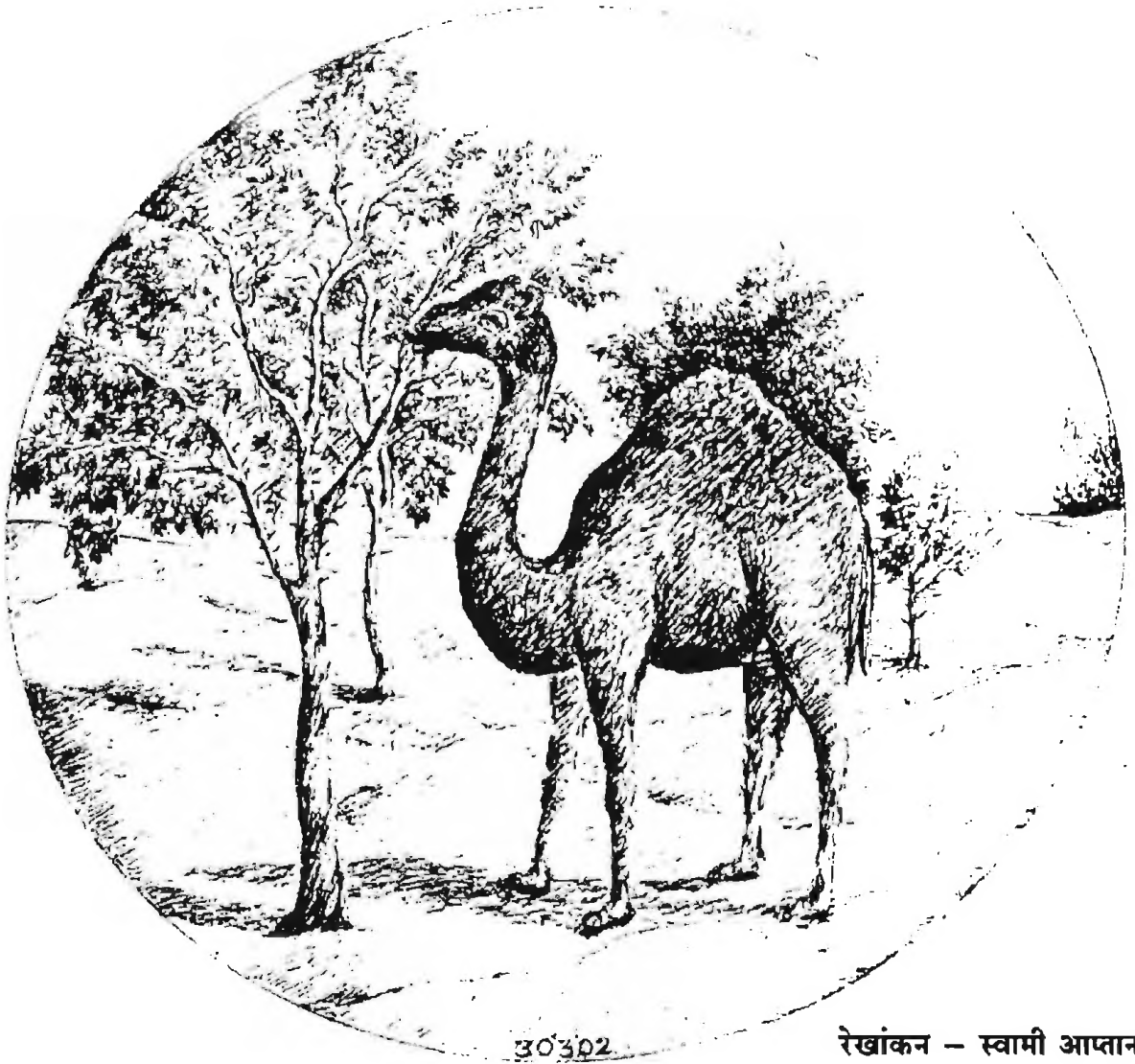
रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

''ईश्वर ही वस्तु हैं, बाकी सब अवस्तु । जगदम्बा ने अपनी महामाया द्वारा मुग्ध कर रखा है । मनुष्यों में देखो, बद्ध जीव ही अधिक हैं । इतना दु:ख-कष्ट पाते हैं, फिर भी उसी 'काम-कांचन' में उनकी आसक्ति है । कँटीली घास खाते समय ऊँट के मुँह से धर-धर खून बहता है, फिर भी वह उसे छोड़ता नहीं, खाते ही जाता है ।

''जो बद्ध जीव हैं, संसारी जीव हैं, उन्हें होश नहीं रहता । सामने भगवत्प्रसंग देखकर ये लोग वहाँ से उठकर चले जाते हैं, कहते हैं – 'मरने के समय रामनाम लिया जाएगा, अभी इतनी जल्दी क्या है?' बद्ध जीव जिससे इतनी तकलीफ पाता है, वही काम फिर करता है; वह अपने और अपने परिवार के पेट पालने के लिए ही दासत्व करता है और झूठ, वंचना एवं खुशामद करके धनोपार्जन करता है । जो लोग ईश्वर का चिन्तन करते हैं, ईश्वर के ध्यान में मग्न रहते हैं, उन्हें बद्ध जीव पागल कहते हैं और उनकी हँसी उड़ाया करते हैं ।

''संसारी लोगों को इतना शोकताप मिलता है, पर कुछ दिन बीते कि सब भूल गए । औरत गुजर गई या बदचलन निकली, तो फिर ब्याह कर लेता है । बच्चा मर गया, बड़ा शोक हुआ, पर कुछ ही दिनों में सब भूल जाता है । बच्चे की वही माँ जो मारे शोक के अधीर हो रही थी, कुछ दिन बीत जाने पर फिर शृंगार करती है । इसी तरह आदमी बेटी के ब्याह में सारा धन खर्च कर तबाह हो जाता है, फिर भी उसके घर हर साल बच्चे पैदा होते ही जाते हैं । मुकदमेबाजी में सब कुछ गँवाकर कंगाल हो जाता है, तो भी मुकदमा लड़ने के लिए सदा तैयार ही रहता है । जितने लड़के-बच्चे हुए हैं, उन्हीं को अच्छा भोजन, अच्छे कपड़े, अच्छा घर नहीं मिलता और ऊपर से हर साल एक और पैदा हो जाता है!''

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम
विज्ञानानन्द मार्ग, मुट्ठीगंज,
इलाहाबाद - २११००३ (उ.प्र.)
दूरभाष : ४१३३६९

निवेदन

प्रिय बन्धु,

रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, इलाहाबाद की स्थापना पूज्यपाद स्वामी विज्ञानानन्द महाराज (१८६८-१९३८) द्वारा विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द की इच्छानुसार हुई थी। तब से आज तक यह आश्रम जनता जनार्दन की सेवा बिना किसी धर्म, जाति और वर्ण के भेदभाव का विचार किये करता आ रहा है।

धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक गतिविधियों के अतिरिक्त यह सेवाश्रम एक सार्वजनिक ग्रंथालय तथा वाचनालय का संचालन कर रहा है। ग्रंथालय में २८,५०० पुस्तकें हैं, जिनमें धर्म, दर्शन, इतिहास, साहित्य के ग्रन्थों के साथ विज्ञान, कला, वाणिज्य, चिकित्सा तथा अभियांत्रिक निकाय की पाठ्य पुस्तकें भी शामिल हैं। वाचनालय में ३७ पत्रिकाएँ, १४ दैनिक समाचार पत्र आते हैं। ग्रन्थालय की सदस्य संख्या ७४४ है। वाचनालय का प्रतिदिन प्रायः ७० व्यक्ति लाभ लेते हैं।

यह सेवाश्रम एक चिकित्सा केन्द्र का भी संचालन कर रहा है, जिसमें सामान्य चिकित्सा के साथ ही नेत्र रोग, दन्त रोग, चर्म रोग, बाल रोग, स्त्री तथा प्रसूति रोग, अस्थि रोग तथा नाक-कान-गला रोग के विशेषज्ञ अपनी सेवाएँ प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ होमियोपैथिक, ई.सी.जी., अल्ट्रासाउन्ड, पैथालॉजी, फिजियोथेरेपी तथा बच्चों के टीकाकरण आदि की सुविधाएँ भी उपलब्ध हैं। प्रतिदिन प्रायः ३०० मरीज इस चिकित्सा सुविधा का लाभ उठाते हैं।

हमारी आवश्यकताएँ : चिकित्सा केन्द्र में एक बड़ी आवश्यकता एक आपरेशन थियेटर की तथा २० शय्या से युक्त इनडोर वार्ड्स की तथा एक एक्स-रे मशीन की है। इसके लिये वर्तमान चिकित्सा केन्द्र के ऊपर एक मंजिल और ले जाने की है। इसी प्रकार ग्रन्थालय और वाचनालय में छात्र-छात्राओं की बढ़ती संख्या को देखते हुए उसकी भी विस्तार की बड़ी आवश्यकता अनुभव की जा रही है। ग्रन्थालय तथा वाचनालय का विस्तार पीछे की ओर किया जायेगा तथा उसके ऊपर वर्तमान सभागृह का विस्तार युवा-सम्मेलन, आध्यात्मिक शिविर आदि के आयोजन की सुविधा प्रदान करेगा।

अनुमानित व्यय :

१. ग्रंथालय तथा सभागृह के विस्तार पर	१८ लाख रूपये
२. चिकित्सा केन्द्र में आपरेशन थियेटर, पुरुष तथा महिला वार्ड और एक्स-रे मशीन पर	२२ लाख रूपये

इस प्रकार कुल ४० लाख रूपये की आवश्यकता है। आपसे हमारा अनुरोध है कि इस पुनीत कार्य में दान प्रदान करें जिससे यह सेवाश्रम अपनी सेवा का अधिकाधिक विस्तार कर सके। सेवाश्रम को दिये गये दान आयकर अधिनियम १९६१ की धारा ८० जी के अन्तर्गत आयकर से मुक्त हैं। आप अपना दान चेक/ड्राफ्ट द्वारा 'रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम' के नाम पर भेजने का कष्ट करें।

आप सबकी प्रभु से मंगल कामना करते हुए,

प्रभु सेवा में आपका

स्वामी निखिलात्मानन्द

सचिव
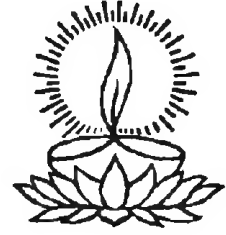
वर्ष ४० नवम्बर २००२ अंक ११

नीति-शतकम्

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः-
नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ।।७१।।

अन्वयः – तरवः फलोद्गमैः नम्राः भवन्ति, घनाः नवाम्बुभिः दुरविलम्बिनः भवन्ति, सत्पुरुषाः समृद्धिभिः अनुद्धताः भवन्ति । परोपकारिणाम् एषः एव स्वभावः ।

भावार्थ – वृक्षों में फल आ जाने पर वे झुक जाते हैं, बादलों में नया जल आ जाने पर वे दूर दूर तक लटक जाते हैं, सज्जन लोग समृद्धि प्राप्त होने पर विनीत बने रहते हैं – जगत् में परोपकारियों का स्वभाव ही ऐसा विनम्र होता है ।

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन
दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन ।
विभाति कायः करुणापराणां
परोपकारैर्न तु चन्दनेन ।। ७२।।

अन्वयः – करुणापराणां श्रोत्रं श्रुतेन एव कुण्डलेन न, पाणिः दानेन कङ्कणेन तु न, कायः परोपकारैः चन्दनेन तु न विभाति ।

भावार्थ – करुणा-परायण सज्जनों के कान कुण्डलों से नहीं बल्कि शास्त्र-श्रवण से सुशोभित होते हैं; उनके हाथ कंगनों से नहीं अपितु दान के द्वारा सुशोभित होते हैं; वैसे ही उनका शरीर चन्दन-लेप से नहीं वरन् परोपकार के द्वारा सुशोभित होता है ।

– भर्तृहरि

काली-वन्दना

– १ –

(दुर्गा-कहरवा)

जय जय जय कालिके भवानी ।
हर-हृदि कमलारूढ़ शिवानी ।।

मुण्डमाल गल, कटि कर काछिनी,
असि धारण कर असुर नसानी ।।

कृष्ण रूप अन्तर आलोकिनी,
ध्यावत सुर नर मुनि बुध ज्ञानी ।।

माँगत शरण 'विदेह' दयानी,
त्राहि माम अभया वरदानी ।।

– २ –

(पहाड़ी-कहरवा)

मनवा, काली काली बोल ।
पल पल जप मधु नाम निरन्तर,
जो पाया अनमोल ।। मनवा.।।

माँ विराजती हृदि शतदल पर,
दिव्य प्रभा से आलोकित कर;
तीरथ-मन्दिर बहुत हो चुके,
इधर उधर ना डोल ।। मनवा.।।

निष्कारण जग में भटका है,
व्यर्थ विवादों में अटका है;
माँ की चरण-तुला में रखकर,
निज जीवन को तोल ।। मनवा.।।

जो बोयेगा सो पायेगा,
पर कुछ हाथ नहीं आयेगा;
व्यर्थ न जाने दे अवसर यह,
उर के बन्धन खोल ।। मनवा.।।

– *विदेह*

भारत की उन्नति के उपाय

स्वामी विवेकानन्द

हम मूर्खों की तरह भौतिक सभ्यता की निन्दा किया करते हैं। अंगूर खट्टे हैं न! उस मूर्खोचित बात को मान लेने पर भी यह कहना पड़ेगा कि पूरे भारत में लगभग एक लाख नर-नारी ही यथार्थ रूप से धार्मिक हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या इतने लोगों की धार्मिक उन्नति के लिए भारत की तीस करोड़ जनता को बर्बरों का-सा जीवन व्यतीत करना और भूखों मरना होगा? क्यों कोई भूखों मरे? मुसलमानों के लिए हिन्दुओं को जीत सकना कैसे सम्भव हुआ? यह हिन्दुओं द्वारा भौतिक सभ्यता का निरादर करने के कारण ही हुआ।

भौतिक सभ्यता, यहाँ तक कि विलासिता की भी जरूरत है – क्योंकि उससे गरीबों को रोजगार मिलता है। रोटी! रोटी! रोटी! मुझे इस बात का विश्वास नहीं कि वह भगवान, जो इस लोक में मुझे रोटी नहीं दे सकता, परलोक में अनन्त सुख देगा! राम कहो! भारत को उठाना होगा, गरीबों को भोजन देना होगा, शिक्षा फैलाना होगा और पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों को मिटाना होगा। पुरोहिती बुराइयों तथा सामाजिक अत्याचारों का कहीं नामो-निशान तक न रहे। सबको यथेष्ट अन्न तथा सुविधाएँ प्राप्त हों।

अपने धर्म पर और बल देते हुए तथा समाज को स्वाधीनता देते हुए, हमें यह अवस्था धीरे धीरे लानी पड़ेगी। प्राचीन धर्म से पुरोहित-प्रपंच की बुराइयों को निकाल दो, तो तुम्हें संसार का सबसे अच्छा धर्म प्राप्त हो जाएगा। मेरी बात समझते हो न? भारत का धर्म लेकर क्या एक यूरोपीय समाज का निर्माण कर सकते हो? मुझे विश्वास है कि यह सम्भव है और एक दिन ऐसा अवश्य होगा।

यह देश गिर अवश्य गया है, पर निश्चय ही फिर उठेगा और ऐसा उठेगा कि दुनिया देखकर दंग रह जायगी। देखा नहीं है – नदी या समुद्र में लहरें जितनी नीचे उतरती हैं, उसके बाद उतनी ही जोर से ऊपर उठती हैं। यहाँ भी वैसा ही होगा। देखते नहीं – पूर्वाकाश में अरुणोदय हुआ है, सूर्य उदित होने में अब अधिक विलम्ब नहीं है। तुम लोग इसी समय कमर कसकर तैयार हो जाओ।

तुम्हारा काम है हर अंचल में, हर गाँव में जाकर देशवासियों को समझा देना कि अब आलस्यपूर्वक बैठे रहने से काम नहीं चलेगा। शिक्षा-विहीन वर्तमान अवनति की बात उन्हें समझाकर कहो, 'भाइयो, उठो, जागो, कब तक सोओगे?' और शास्त्र के महान् सत्यों को सरल शब्दों में उन्हें समझा दो। सरल भाषा में उन्हें व्यापार, वाणिज्य, कृषि आदि गृहस्थी के आवश्यक विषयों का उपदेश दो। अन्यथा तुम्हारे लिखने-पढ़ने को धिक्कार है और तुम्हारे वेद-वेदान्त पढ़ने को भी धिक्कार है!

भारत में धर्म बहुत दिनों से गतिहीन बना हुआ है। हम चाहते हैं कि उसमें गति उत्पन्न हो। मैं चाहता हूँ कि हर मनुष्य के जीवन में धर्म प्रतिष्ठित हो। मैं चाहता हूँ कि प्राचीन काल की तरह राजमहल से लेकर दरिद्र के झोपड़े तक सर्वत्र समान भाव से धर्म का प्रवेश हो। याद रहे, धर्म ही इस जाति की सामान्य विरासत तथा जन्मसिद्ध सम्पदा है। इस धर्म को हर व्यक्ति के द्वार तक निःस्वार्थ भाव से पहुँचाना होगा। ईश्वर के राज्य में जैसे वायु सबको समान रूप से प्राप्त होती है, वैसे ही भारत में धर्म को सर्वसुलभ बनाना होगा। भारत में इसी तरह कर्म करना होगा। छोटे छोटे दल बाँध आपसी मदभेदों पर विवाद करते रहने से नहीं बनेगा; हमें तो उन बातों का प्रचार करना होगा, जिनमें हम सब सहमत हैं और तब आपसी मदभेद अपने आप ही दूर हो जाएँगे। मैंने भारतवासियों से बारम्बार कहा है और अब भी कहता हूँ कि कमरे में यदि सैकड़ों वर्षों से अँधेरा फैला हुआ है, तो क्या घोर अँधेरा! घोर अँधेरा!! कहकर चिल्लाने से ही अँधेरा दूर हो जाएगा? नहीं; रोशनी जला दो, फिर देखो कि अँधेरा आप ही आप दूर हो जाता है या नहीं।

दो चीजों से बचे रहना – सत्ताप्रियता और ईर्ष्या। सद् आत्मविश्वास का अभ्यास करना।

पहले अन्य देशों में जाओ और अपनी आँखों से उनकी अवस्था तथा रहन-सहन का अध्ययन करो। फिर अपने शास्त्रों और पुराने साहित्य को पढ़ो और सारे भारत की यात्रा करो तथा विभिन्न प्रदेशों में रहनेवाले अधिवासियों के चाल-चलन, आचार-विचार का विस्तीर्ण दृष्टि और उन्नत मस्तिष्क से विचार करो; तब समझ सकोगे कि इस देश का प्राण धर्म है, भाषा धर्म है तथा भाव धर्म है। तुम्हारी राजनीति, रास्ते की सफाई, प्लेग-निवारण, अकाल-पीड़ितों को अन्नदान आदि इस देश में चिरकाल से जैसे होता आया है, वैसे ही होगा – अर्थात् धर्म के द्वारा ही होगा तो होगा, अन्यथा नहीं। तुम्हारे रोने-चिल्लाने का कुछ भी फल न होगा।

विदेशी राष्ट्रों के साथ सम्बन्ध जोड़े बिना हमारा काम नहीं चलेगा। कभी हम लोगों ने इसके विपरीत सोचा था, पर वह हमारी मूर्खता मात्र थी और यह उसी का फल है कि हम हजारों

वर्षों से दासता के बन्धनों में बँधे हैं। हम लोग दूसरी जातियों से अपनी तुलना करने के लिए विदेश नहीं गए और हमने संसार की गति पर ध्यान रखकर चलना नहीं सीखा। यही है भारतीय मन की अवनति का प्रधान कारण। हमें यथेष्ट सजा मिल चुकी, अब हमें ऐसा नहीं करना चाहिए।

हमें दूसरों से भी सीखना होगा। जमीन में बीज बो दो, उसके लिए पर्याप्त मिट्टी, हवा और पानी की व्यवस्था करो; जब बीज अंकुरित होकर क्रमश: एक विशाल वृक्ष के रूप में फैल जाता है, तब क्या वह मिट्टी, हवा और पानी बन जाता है? नहीं, वह तो विशाल वृक्ष ही बनता है – मिट्टी, हवा और पानी से रस खींचकर वह अपनी प्रकृति के अनुसार एक महीरुह का रूप ही धारण करता है। उसी प्रकार तुम भी करो – औरों से उत्तम बातें सीखकर उन्नत बनो। **जो सीखना नहीं चाहता, वह तो पहले ही मर चुका है।**

पवित्रता के अग्निमंत्र में दीक्षित होकर, ईश्वर के प्रति अटल विश्वास से शक्तिमान बनकर और गरीबों व पददलितों के प्रति सहानुभूति से सिंह के समान साहसी बनकर, लाखों नर-नारी इस सम्पूर्ण भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक सर्वत्र उद्धार के सन्देश, सेवा के सन्देश, सामाजिक उत्थान के सन्देश और समानता के सन्देश का प्रचार करते हुए विचरण करेंगे।

आशा है तुम विनीत, निरभिमानी और विश्वासपरायण लोगों से। ईश्वर में आस्था रखो। किसी चालबाजी की जरूरत नहीं; उससे कुछ नहीं होता। दुखियों के दर्द को समझो और ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करो – वह अवश्य मिलेगी। मैं बारह वर्ष तक हृदय पर यह बोझ लादे और सिर में यह विचार लिए तथाकथित धनिकों तथा अमीरों के दर दर घूमा; हृदय का रक्त बहाते हुए आधी पृथ्वी का चक्कर लगाते हुए मैं इस अजनबी देश (अमेरिका) में सहायता माँगने आया। पर भगवान अनन्त शक्तिमान हैं – मैं जानता हूँ, वे मेरी सहायता करेंगे। मैं इस देश में भूख या जाड़े से भले ही मर जाऊँ, परन्तु युवको! मैं गरीबों, अशिक्षितों तथा उत्पीड़ितों के लिए इस सहानुभूति और प्राणपण प्रयास को तुम्हें थाती के तौर पर सौंपता हूँ। जाओ, अभी उन पार्थसारथी (श्रीकृष्ण) के मन्दिर में जाओ, जो गोकुल के दीन-हीन ग्वालों के सखा थे, जो गुहक चाण्डाल को भी गले लगाने में नहीं हिचके, जिन्होंने अपने बुद्धावतार में अमीरों का निमंत्रण ठुकराकर एक वारांगना का निमंत्रण स्वीकार करके उसे उबारा; जाओ, उन्हें साष्टांग प्रणाम करो और उनके समक्ष एक महाबलि दो, अपने सम्पूर्ण जीवन की बलि दो – उन दीन-हीनों और उत्पीड़ितों के लिए, जिनके लिए भगवान युग युग में अवतार लेते हैं तथा जिन्हें वे सर्वाधिक प्यार करते हैं। और तब प्रतिज्ञा करो कि अपना पूरा जीवन इन तीस करोड़ लोगों के उद्धार में लगा दोगे, जो दिनों-दिन अवनति के गर्त में गिरते जा रहे हैं।

भारत तभी जागेगा, जब विशाल हृदयवाले सैकड़ों नर-नारी भोग-विलास तथा सुख की सभी इच्छाओं को विसर्जित कर तन, मन एवं वचन से उन करोड़ों देशवासियों के हितार्थ कर्म करेंगे, जो गरीबी व अशिक्षा के अगाध सागर में सतत डूबते जा रहे हैं। मैंने अपने इस क्षुद्र जीवन में अनुभव किया है कि उत्तम लक्ष्य, निश्छलता और अनन्त प्रेम से पूरे विश्व को जीता जा सकता है। ऐसे गुणों से युक्त एक व्यक्ति भी करोड़ों पाखण्डी तथा निर्दयी लोगों की दुर्बुद्धि को नष्ट कर सकता है।

तुम लोग शून्य में विलीन हो जाओ और फिर एक नवीन भारत निकल पड़े। निकले हल पकड़कर, किसानों की कुटी भेदकर, मछुए, माली, मोची, मेहतरों की कुटीरों से। निकल पड़े बनियों की दूकानों से, जंगलों-पहाड़ों-पवर्तों से, कारखानों से, हाट से, बाजार से, निकले झाड़ियों, जंगलों, पर्वतों से। इन लोगों ने हजारों वर्षों तक नीरव अत्याचार सहन किया है और उससे पायी है अपूर्व सहिष्णुता। सतत दु:ख झेला है, जिससे पायी है अटल जीवनी शक्ति। ये लोग मुट्ठी भर सत्तू खाकर दुनिया को उलट सकेंगे। आधी रोटी मिली, तो इनका तेज तीनों लोकों में न अटेगा? ये रक्तबीज के प्राणों से युक्त हैं। और पाया है सदाचार-बल, जो तीनों लोकों में नही है। इतनी शक्ति, इतनी प्रीति, इतना प्यार, मौन रहकर दिन-रात इतना खटना और काम के वक्त सिंह का विक्रम!! यही है तुम्हारे सामने तुम्हारा उत्तराधिकारी भावी भारत। अपनी रत्न-पेटिकाएँ, अपनी मणि की अँगूठियाँ – फेंक दो सब इनके बीच; और तुम हवा में विलीन हो जाओ, अदृश्य हो जाओ, सिर्फ कान खड़े रखो। तुम ज्योंही विलीन होगे, उसी वक्त सुनोगे, कोटि-जीमूत-स्यन्दिनी, त्रैलोक्य-कम्पन-कारिणी भावी भारत का उद्बोधन घोष – 'वाहे गुरु की फतह'!

यह घृणित वामाचार छोड़ो, जो बंगाल का नाश कर रहा है। तुमने भारत के अन्य भाग नहीं देखे हैं। जब मैं देखता हूँ कि हमारे समाज में कितना वामाचार फैला हुआ है, तब अपनी संस्कृति के सारे अहंकार के साथ यह (समाज) मेरी नजरो में अत्यन्त गिरा हुआ प्रतीत होता है। इन वामाचार सम्प्रदायो ने मधु-मक्खियो की तरह हमारे बंगाल के समाज को ढँक लिया है। जो लोग दिन में गरजते हुए आचार-विषयक प्रचार करते हैं, वे ही रात को घोर पैशाचिक कृत्य से बाज नहीं आते और अति भयानक ग्रन्थ उनके कर्मो के समर्थक हैं। ये शास्त्र उन्हे घोर दुष्कर्म का आदेश देते हैं। वामाचार-तंत्र ही बंगालियो के शास्त्र हैं। ढेरों प्रकाशित होनेवाले इन ग्रन्थों से तुम अपनी सन्तानों के मन को विषाक्त करते हो। तुम उन्हें श्रुतियो की शिक्षा नहीं देते। कोलकाता-वासियो! अनुवादसहित वामाचार तंत्रों का यह बीभत्स संग्रह अपने बालक-बालिकाओ के हाथ में रखते हुए क्या तुम्हें लज्जा नही आती, जिसके कारण उनका चित्त विषाक्त हो जाता है और वे जन्म से यही धारणा

लेकर पलें कि हिन्दुओं के शास्त्र ये वामाचार ग्रन्थ हैं? यदि तुम लज्जित हो तो अपने बच्चों को उनसे दूर रखो और उन्हें वेद, गीता, उपनिषद् आदि यथार्थ शास्त्र पढ़ने दो।

क्या तुम कोई कारण बता सकते हो कि भारत क्यों आर्य राष्ट्रों में निचले स्थान पर पड़ा है? क्या वह बुद्धि में मन्द है? क्या वह दक्षता में कम है? उसकी कला को देखो, गणित को देखो, दर्शन को देखो और कहो कि क्या तुम मेरे प्रश्नों के उत्तर 'हाँ' में दे सकते हो? जरूरत केवल इस बात की है कि वह अपना सम्मोह दूर करे, युगों की निद्रा को त्यागे और राष्ट्रों की पंक्ति में अपना वास्तविक स्थान ग्रहण करे।

गीता में भगवान ने जो कहा है – प्रबल कर्मयोग – हृदय में अमित साहस, अपरिमित शक्ति; इस समय यही चाहिए। तभी देश में सब लोग जाग उठेंगे, नहीं तो जिस अन्धकार में तुम हो, वे भी उसी में रहेंगे।

जानते हो, मेरा मत क्या है? वेदान्त धर्म के गूढ़ रहस्य का पाश्चात्य जगत् में प्रचार करके हम उन महाशक्ति राष्ट्रों की श्रद्धा और सहानुभूति प्राप्त करेंगे और आध्यात्मिक विषय में सर्वदा उनके गुरुस्थानीय बने रहेंगे। दूसरी ओर वे विभिन्न ऐहिक विषयों में हमारे गुरु बने रहेंगे। ... 'हमें यह दे दो, हमें वह दे दो' – कहकर दिन-रात चिल्लाने से हमें कुछ प्राप्त न होगा। इसकी जगह उपयुक्त आदान-प्रदान के फलस्वरूप जब दोनों पक्षों में पारस्परिक श्रद्धा व सहानुभूति का भाव उत्पन्न होगा, तब अधिक चिल्लाने की जरूरत ही नहीं रहेगी। वे (पाश्चात्य लोग) स्वयं ही हमारे लिए सब कुछ कर देंगे। मेरा विश्वास है कि वेदान्त-धर्म की चर्चा और उसका सर्वत्र प्रचार होने से हमारा और उनका – दोनों का ही विशेष लाभ होगा। इसकी तुलना में राजनीतिक चर्चा मेरी समझ में निम्न स्तर का उपाय है। अपने इस विश्वास को कार्य में परिणत करने के लिए मैं अपने प्राण तक दे दूँगा। तुम यदि समझते हैं कि किसी अन्य उपाय से भारत का कल्याण होगा, तो उसी का अवलम्बन करके आगे बढ़ते जाओ।

कोई भी सत्य, प्रेम तथा निष्कपटता को रोक नहीं सकता। क्या तुम निष्कपट हो? मरते दम तक नि:स्वार्थ हो? प्रेमनिष्ठ हो? तो फिर डरो मत, मृत्यु से भी नहीं। आगे बढ़ो। पूरा विश्व आलोक चाहता है। उसे बड़ी आशा है। यह आलोक केवल भारत में ही है। यह रहस्यमय निरर्थक धार्मिक अनुष्ठानों या छल-कपट में नहीं है। यह उन उपदेशों में है, जो यथार्थ धर्म के सारतत्त्व की महिमा की – सर्वोच्च आध्यात्मिक तत्त्व की शिक्षा देती है। इसी कारण प्रभु ने इस जाति के इतने सारे उतार-चढ़ावों के बावजूद इसे आज भी सुरक्षित रखा है। अब समय आ पहुँचा है। मेरे वीरहृदय युवको! यह विश्वास रखो कि तुम लोगों का जन्म अनेक महान् कार्य सम्पन्न करने के लिए ही हुआ है। कुत्तों के भूँकने से न डरो, स्वर्ग के वज्र से भी न डरो। उठकर खड़े हो जाओ और कार्य करते चलो।

जीवन में मेरी एकमात्र अभिलाषा – एक ऐसे चक्र का प्रवर्तन करना है, जो उच्च एवं श्रेष्ठ विचारों को सबके द्वारों तक पहुँचा दे और तब सभी नर-नारी स्वयं ही अपने भाग्य का निर्णय कर लें। सर्व-साधारण को जानने दो कि हमारे पूर्वजों ने तथा अन्य देशों ने भी जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर क्या विचार किया है। विशेषकर उन्हें यह देखने दो कि अन्य लोग इस समय क्या कर रहे हैं और तब उन्हें अपना निर्णय करने दो। रासायनिक द्रव्य एकत्र कर दो और प्रकृति के नियमानुसार वे कोई विशेष आकार धारण कर लेंगे। परिश्रम करो, अटल रहो और भगवान पर श्रद्धा रखो। काम शुरू कर दो। देर-सबेर मैं आ ही रहा हूँ। **धर्म को बिना हानि पहुँचाए जनता की उन्नति – इसे अपना आदर्श वाक्य बना लो।**

याद रखो कि राष्ट्र झोपड़ी में बसा हुआ है; परन्तु खेद! कभी किसी ने उन लोगों के लिए कुछ भी नहीं किया। हमारे आधुनिक सुधारक विधवाओं के पुनर्विवाह कराने में बड़े व्यस्त हैं। निश्चय ही मुझे प्रत्येक सुधार से सहानुभूति है; परन्तु राष्ट्र की भावी उन्नति उसकी विधवाओं को मिले पतियों की संख्या पर नहीं, अपितु आम जनता की अवस्था पर निर्भर करता है। क्या तुम जनता की उन्नति कर सकते हो?

अब जरूरत है गीता के सिंहनादकारी श्रीकृष्ण की, धनुर्धारी श्रीराम की, महावीर की, माँ काली की पूजा की। इसी से लोग महान् उद्यम के साथ कर्म में लगेंगे और शक्तिशाली बनेंगे। मैंने बड़ी अच्छी तरह विचार करके देखा है कि वर्तमान काल में जो धर्म की रट लगा रहे हैं, उनमें से बहुत-से लोग पाशवी दुर्बलताओं से भरे हुए हैं, विकृत-मस्तिष्क अथवा उन्मादग्रस्त हैं। बिना रजोगुण के तुम्हारा न इहलोक होगा, न परलोक। घोर तमोगुण से देश भर गया है। फल भी उसका वैसा हो रहा है। इस जीवन में दासत्व और परलोक में नरक।

देशभक्त बनो – जिस जाति ने अतीत में हमारे लिए इतने बड़े बड़े काम किए हैं, उसे प्राणों से भी अधिक प्यारी समझो हे स्वदेशवासियो! मैं संसार के अन्य राष्ट्रों के साथ अपने राष्ट्र की जितनी ही तुलना करता हूँ, उतना ही अधिक तुम लोगों के प्रति मेरा प्यार बढ़ता जाता है। तुम लोग शुद्ध, शान्त और सत्स्वभाव हो और तुम्हीं लोग सदा अत्याचारों से पीड़ित रहते आए हो – इस मायामय जड़ जगत् की पहेली ही कुछ ऐसी है। जो हो, तुम इसकी परवाह मत करो। अन्त में निश्चित रूप से आत्मा की ही जय होगी। इस बीच आओ हम काम में लग जायँ। केवल देश की निन्दा करने से काम नहीं चलने का। अपनी इस परम पुनीत मातृभूमि के काल-जर्जर कर्मजीर्ण आचारों और प्रथाओं की निन्दा मत करो। ❖ **(क्रमश:)** ❖

मौन की महत्ता

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हममें से प्रत्येक ने जीवन में कभी-न-कभी मौन के लाभकारी प्रभाव का अनुभव किया होगा। एक अत्यन्त व्यस्त व्यक्ति भी अपनी चर्या में नियमित अवकाश का स्थान रखता है। मौन जीवन का एक अत्यन्त आवश्यक उपादान प्रतीत होता है। जब हम किसी निर्जन स्थली अथवा झील के किनारे या उपवन में घूमते होते हैं अथवा पर्वत के शिखर पर पहुँच कर प्रकृति के रूप-माधुर्य का पान करते होते हैं, तो हम वास्तव में अनजाने मौन की खोज में होते हैं और उसका उपभोग करते हैं, पर हमें हर समय मौन की इस महत्ता का भान नहीं होता। जीवन में मन-बहलाव के ऐसे अवसर भले ही बहुत कम प्राप्त होते हैं, पर जब कभी वे मिलते हैं, तो हम उस प्रभाव को नहीं भूल सकते, जो प्रकृति के साथ तादात्म्य हमारे चरित्र पर डालता है। फिर, कभी जब हम मध्य रात्रि में उठ जाते हैं, जिस समय चारों ओर एक गहरी निस्तब्धता छाई होती है, उस समय हमें एक अभिनव अनुभूति होती है। ऐसा लगता है कि रात्रि का गहरा मौनभाव मानो हमारे अन्तर में घुसा जा रहा है। हाँ, यह भी सम्भव है कि मौन कभी भयावह भी हो जाय। कई लोग शब्द का नितान्त अभाव नहीं सह सकते। किन्तु इन अपवादों को यदि हम छोड़ दें, तो हममें से अधिकांश लोग बीच बीच में प्रकृति के स्पर्श से अथवा घर में ही प्राप्त होने वाले मौन का स्वागत करते हैं और उससे लाभान्वित होते हैं।

कभी कभी जब हम अकेले होते हैं और जब सब कुछ शान्त होता है, तो हमें एक प्रकार की स्फूर्ति प्राप्त होती है और हमारे स्नायुयों को ताजगी मिलती है। हमारी खोई हुई शक्ति लौट आती है। कुल मिलाकर प्रभाव यह होता है कि हमारा तन और मन दोनों प्रफुल्ल हो जाते हैं।

फिर, सुषुप्ति भी जीवन में मौन की आवश्यकता को सिद्ध करती है। हम दिन भर कितने ही व्यस्त क्यों न हों, रात्रि में उस घड़ी की चाह रखते हैं जब हमारे विचार और भावनाएँ, इच्छाएँ और आशाएँ, चिन्ताएँ और जिम्मेदारियाँ – सब कुछ पीछे छूट जाता है। वह गहरी नींद है क्या? क्या वह मौन का ही अवसर नहीं है। यद्यपि हम उस अवस्था में सभी कुछ पीछे छोड़ जाते हैं, यहाँ तक कि शरीर का बोध भी छूट जाता है, तथापि उससे हम आनन्द प्राप्त करते हैं। वास्तव में निद्रा कोई शून्यता नहीं है। निद्रा के रहस्य को जानने के लिए न तो हमारे पास समय होता है और न रुचि ही। हम उस अवस्था में आराम और शान्ति पाते हैं – बस यही हमारे लिए पर्याप्त होता है। किन्तु उपनिषद् इस अवस्था के सम्बन्ध में बड़ा प्रकाश डालते हैं। उपनिषदों के अनुसार, सुषुप्ति मानव-चेतना को विश्व-चेतना की भूमि के सन्निकट ले जाती है। यह विश्व-चेतना असीम शान्ति की अवस्था है। यही कारण है कि हम नींद से जागने पर इतना तरोताजा अनुभव करते हैं।

मौन का मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन में भी बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। महात्मा गाँधी मौन के महत्त्व को स्वीकार करते थे। संत विनोबा भावे ने तो मौन को अपने जीवन का एक अंग ही बना लिया था। मौन की महत्ता के आधार पर ही इसकी परिभाषा मुनि के आचरण से दी गई है। यदि हम मौन के आध्यात्मिक महत्त्व की बात को छोड़ भी दें, तो भी हमारे भौतिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिये मौन परम आवश्यक है। मौन का प्रारम्भिक अभ्यास यह है कि हम कुछ समय के लिए चुपचाप बैठ जाएँ और मन में किसी गम्भीर विचार या क्रियाशीलता को न पैठने दें। इस प्रकार भले ही वह दस मिनट के लिए क्यों न हो, यदि हम अपने आप में स्थित रहें, तो वह हमारे शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी 'टॉनिक' का काम करता है। इस अभ्यास से हमारी चिन्ताएँ और मन की चचलता भी कम होती है। मौन की आश्चर्यजनक शक्ति ब्राह्म मुहूर्त में अनुभव की जा सकती है। उस समय सब कुछ निस्तब्ध रहता है। रात्रि के गाम्भीर्य को यदि हम अपने हृदय में अनुभव करने का प्रयत्न करें, तो इससे आश्चर्यजनक रूप से मन का तनाव दूर होगा। ❑❑❑

अंगद-चरित (६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरो पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके पाँचवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक हैं। – सं.)

अंगद के चरित्र पर जिनका सर्वाधिक प्रभाव पड़ा, उनमें बालि प्रमुख हैं, क्योंकि बालि के द्वारा ही अंगद का जन्म हुआ था। बालि में जो विशेषताएँ थीं, वे प्रारम्भ में ही उत्तराधिकार के रूप में अंगद को मिली थीं, पर अंगद में एक विशेष गुण यह था कि उनमें अभिमान नहीं था। वे बड़े विनम्र तथा विनय-सम्पन्न थे। इसके बाद उन पर लक्ष्मणजी की तेजस्विता तथा निर्भयता का प्रभाव पड़ा। लक्ष्मणजी के चरित्र में जो अभय की वृत्ति है, वह अंगद के जीवन में सर्वत्र दिखाई देती है। अंगद किसी भी परिस्थिति में भयभीत नहीं होते। पर अंगद के जीवन का जो क्रम-विकास हुआ, उसमें मुख्य भूमिका हनुमानजी की है। अंगद ने हनुमानजी से जितनी प्रेरणा पाई, वैसी प्रेरणा किसी अन्य से नहीं पाई। उनकी पृष्ठभूमि पर जरा ध्यान दें। सुग्रीव बन्दरों को आदेश दे चुके हैं कि वे जननी सीताजी का पता लगाने के लिए जायँ। इस कार्य के लिए सभी दिशाओं में बन्दरों को भेजा जाता है। पर दक्षिण दिशा के लिए जिन बन्दरों का चुनाव किया गया, वे वानरों में सर्वश्रेष्ठ पात्र हैं।

बहिरंग अर्थों में तो इसका तात्पर्य यह था कि रावण ने सीताजी का हरण किया है, यह समाचार गीधराज से पहले ही मिल चुका है। सुग्रीव से भी यह सूचना मिल चुकी है। रावण की लंका दक्षिण दिशा में है, अत: दक्षिण दिशा को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया। पर इसका तात्पर्य केवल इतना ही नही है। क्योंकि 'मानस' में इतिहास और भूगोल का पक्ष विद्यमान होते हुए भी वह गौण है, मुख्य नही। इस सन्दर्भ में यही संकेत मिलता है, क्योंकि यदि केवल भौतिक दृष्टि से देखें कि जब समाचार मिल ही चुका है कि रावण सीताजी का हरण करके दक्षिण की ओर ले गया है, तो उसके बाद केवल दक्षिण दिशा में ही बन्दरों को भेजना चाहिए था और यदि श्रीराम का यही निश्चय था कि यह कार्य हनुमानजी के द्वारा ही सम्पन्न हो, तो ऐसी अवस्था में भगवान अपने प्रिय भक्त हनुमानजी को पास बुलाकर आदेश देते कि तुम दक्षिण दिशा में लंका की यात्रा करो और जनकनन्दिनी सीताजी तक मेरा सन्देश पहुँचाओ और उनका सन्देश लेकर मेरे पास वापस आओ।

परन्तु यह दसों दिशाओं में बन्दरों को भेजना? बहिरंग दृष्टि से अगर देखें तो ऐसा लगता है कि यह तो एक व्यर्थ का कार्य था, जिसका कोई उद्देश्य नहीं था। लगता है कि बन्दरों को व्यर्थ के श्रम में लगा दिया गया। वैसे ही दक्षिण दिशा में अंगद के नेतृत्व में बन्दरों को भेजा गया, पर भगवान उन्हें वह आदेश नही देते, जो उन्होने हनुमानजी को बुलाकर दिया। ये दोनों सूत्र बड़े महत्व के है।

'मानस' मे इतिहास की अपेक्षा साधना के पक्ष को अधिक महत्त्व दिया गया है। इसे यदि आध्यात्मिक सन्दर्भ में देखें, तो इतिहास में तो सीताजी की खोज त्रेतायुग का सत्य है, पर यदि व्यक्ति तथा समाज के सन्दर्भ में देखें, तो सीताजी की खोज जीवन का चरम लक्ष्य है। सीताजी को खोजना और पाना ही रामायण का महत्तम उद्देश्य है, परम लक्ष्य है।

श्री सीताजी का परिचय अनेक रूपों में दिया गया है। वेदान्त की भाषा में सीताजी मूर्तिमती 'शान्ति' हैं। और भक्तों की भाषा में उनका परिचय देते हुए उन्हें 'भक्ति' कहा गया –

सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर ।। २/३२१

जब मनु को भगवान श्रीराम का दर्शन हुआ, तो उस समय एक बड़ी विचित्र घटना हुई। मनु आशा करते थे कि भगवान उनके सामने श्रीराम के रूप मे प्रकट होंगे, लेकिन श्री राघवेन्द्र जब प्रकट हुए, तो वे अकेले नहीं थे। उनके वाम भाग मे दिव्य शक्ति सुशोभित हो रही थी।

इन दो सूत्रों पर ध्यान दें – महाराज जनक और महाराज दशरथ। महाराज मनु ही आगे चलकर महाराज दशरथ होते हैं और दोनों के चरित्र में आपको एक सूत्र मिलेगा। महाराज मनु ने भगवान श्रीराम को बुलाया, परन्तु वे अकेले नहीं, बल्कि सीताजी को साथ लेकर आए। इस प्रकार महाराज जनक ने केवल सीताजी को पाया, पर सीताजी अकेली नही रहीं और उनके माध्यम से उन्होंने श्रीराम को पा लिया। ये दोनों पक्ष हैं – श्रीराम के माध्यम से सीताजी की उपलब्धि और सीताजी के माध्यम से श्रीराम की उपलब्धि।

रावण के जीवन में इसका एक अन्य पक्ष भी मिलता है। रावण के जीवन में लक्ष्य है सीताजी को पाना, पर उसके हृदय में सीताजी के प्रति जितना राग है, श्रीराम के प्रति उतना ही तीव्र द्वेष है। वह श्रीराम से अलग करके सीताजी को पाना चाहता है। जनक और दशरथ के प्रसंग में सीताजी और

श्रीराम का मिलन होता है, पर रावण के द्वारा उन्हें एक दूसरे से अलग कर दिया जाता है। यह जो उपलब्धि का क्रम है, वह दोनों को अलग करके कभी नहीं हो सकता। उपलब्धि जब भी होगी, तो वहाँ सीताजी और श्रीराम साथ साथ होंगे। रावण के जीवन में जिस पद्धति से उन्हें पाने की चेष्टा की गई, उसके परिणाम से आप भलीभाँति परिचित हैं।

अब आध्यात्मिक आधार पर विचार कीजिए। भगवान राम जब मनु के समक्ष आए, तो सीताजी के साथ आए, इसका तात्पर्य क्या है? सीताजी यदि वेदान्त की भाषा में मूर्तिमती शान्ति हैं, तो यों कहिए कि ईश्वर और शान्ति आपस में अभिन्न भाव से जुड़े हुए हैं, दोनों एक ही हैं। इसका अर्थ यह है कि जब जीवन में ईश्वर पूरी तरह से प्रतिष्ठित होगा, तभी शान्ति मिलेगी। यदि सीताजी भक्ति हैं और जनकजी ने भक्ति रूपी सीताजी को पा लिया, इसका अभिप्राय है कि जहाँ पर भक्ति है, वहाँ पर भगवान बिना प्रयास के मिल जाते हैं। इस प्रकार इन दोनों के जीवन में यह सूत्र स्पष्ट होता है।

मनु ने जब भगवान श्रीराम के वाम भाग सुशोभित सीताजी को देखा, तो वे उन्हें पहचान नहीं सके, मनु का उनसे परिचय नहीं था। उन्होंने जिज्ञासा-भरी दृष्टि से सीताजी की ओर देखा तो प्रभु ने उन्हें बताया – "मनु! ये वही आदिशक्ति हैं, जिनके द्वारा संसार का सृजन हुआ है।" और दूसरा परिचय देते हुए कहते हैं – ये ही मेरी माया हैं –

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया।
सोउ अवतरिहि मोरि यह माया।। १/१५२/४

माया अर्थात्? माया की व्याख्या कई रूपों में की गई है। माया का एक तात्पर्य – एक विलक्षण जादू की शक्ति। जैसे जादूगर बिना वस्तु के विचित्र विचित्र चीजें दिखा देता है, वैसे ही ईश्वर भी संसार का सबसे बड़ा जादूगर है। उसने बिना किसी वस्तु के इस जगत् की सृष्टि की है। इसके पीछे जो कौशल, क्षमता तथा शक्ति है, वही मायामयी सीताजी हैं। भगवान कहते हैं कि ये सीताजी ही मेरी माया हैं। मैं जो इस ब्रह्माण्ड का सृजन करता हूँ, वह इस माया-शक्ति के द्वारा ही करता हूँ। वस्तुतः यह मुख्य रूप से शक्ति का कार्य है।

तीसरी ओर संकेत यह था कि मनु के हृदय की जो भावना थी, वह प्रारम्भ से ही दूसरी थी। महाराज मनु और महाराज जनक के अन्तःकरण की वृत्ति में मूल अन्तर यह था कि महाराज मनु धर्मात्मा तो बहुत थे, पर इसके बावजूद उनके जीवन में आसक्ति थी। उनके जीवन में वैराग्य नहीं था। इस का उन्हें दुःख था, क्योंकि धर्मात्मा के साथ-ही-साथ वे विवेकी भी थे, अतः भले ही उनके मन में वैराग्य नहीं था, पर विवेक के द्वारा वे वैराग्य की महिमा को जानते थे। इस कारण उन्हें बड़ी ग्लानि थी कि जीवन में धर्मपूर्वक आचरण करते हुए भी, धर्मपूर्वक प्रजा-पालन करते हुए भी अभी तक जीवन से आसक्ति मिटी नहीं है, वैराग्य का उदय नहीं हुआ है –

होइ न बिषय बिराग
भवन बसत भा चौथपन।
हृदयँ बहुत दुख लाग
जनम गयउ हरिभगति बिनु।। १/१४२

महाराज मनु के मन में जब यह ग्लानि उत्पन्न हुई, जब बोध उत्पन्न हुआ, तब वे विवेकपूर्वक उस आसक्ति को दबाते हैं और पुत्र को राज्य देकर वन की ओर चल देते हैं –

बरबस राज सुतहि तब दीन्हा।
नारि समेत गवन बन कीन्हा।। १/१४३/१

ईश्वर की प्राप्ति के लिए चल पड़े। लेकिन पद्धति उन्होंने बड़ी विचित्र अपनाई। राज्य छोड़ दिया, पुत्र छोड़ दिया, किन्तु पत्नी को साथ ले गए। यह बात बड़ी विचित्र है। जब सब कुछ त्यागकर जाना था, तो पत्नी को भी छोड़ जाना था। इसके मूल में मनु की जो मनोभूमि थी, वह यह थी कि वे समझ गए कि मेरे जीवन में वैराग्य तो है नहीं, आसक्ति और राग हैं। अब एक क्रम तो यह है कि संसार से आसक्ति हटे, तो भगवान में आसक्ति हो और दूसरा यह कि भगवान से आसक्ति हो जाय, तो संसार से आसक्ति स्वयं ही छूटकर अनासक्ति आ जाय। मनु को लगा कि संसार से तो मैं अनासक्त और वैराग्यवान बन नहीं पाया, इसलिए अब मेरे लिए तो राग और आसक्ति का ही मार्ग है। पत्नी को साथ ले जाने के पीछे उनकी योजना क्या थी? इसका रहस्य तब खुलता है, जब भगवान ने मनु से पूछा कि तुम क्या चाहते हो? उनकी योजना तो थी कि वैराग्य हो जाय, अनासक्ति हो जाय, मुक्त हो जाऊँ, पर जब मन में आसक्ति और राग है, तो मैं ईश्वर से माँगूँ तो बेटा ही माँगूँ, पर उसमें एक सूत्र उन्होंने कितना सुन्दर बना दिया। उन्होंने सोचा कि पुत्र तो माँगना है, पर वह स्वयं ईश्वर हो, ईश्वर को ही पुत्र बनाना है। यह थी उनकी योजना कि पति-पत्नी दोनों चलेंगे, तभी तो ईश्वर पुत्र बनेगा। वस्तुतः भगवान को पाने के लिए दोनों की साधना अपेक्षित है। इसका अभिप्राय है कि मैं तो आसक्ति के माध्यम से ईश्वर को पुत्र बनाने जा रहा हूँ, इसलिए साथ में सतरूपा जी को भी ले लिया। भगवान ने जब पूछा – मनु तुम क्या चाहते हो? तो मनु कहते हैं – मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ। भगवान बोले – मैं अपने समान कहाँ खोजने जाऊँगा, अतः चलो मैं ही तुम्हारा पुत्र बनकर आऊँगा, परन्तु मेरे साथ सीताजी भी अवतरित होंगी।" यह ठीक ही है। क्योंकि यदि सीताजी भक्ति हैं, तो भगवान भक्ति के बिना नर-शरीर धारण कैसे कर सकेंगे? पुत्र कैसे बनेंगे? यह तो भक्ति की क्रीड़ा है। दूसरी बात यह कि असीम को ससीम के रूप में दिखा देना, तो माया के द्वारा ही सम्भव है। इसलिए भगवान राम सीताजी को साथ लेकर आए हुए हैं। इस तरह राग के मार्ग से उन्होंने

श्रीराम से नाता जोड़ा और इसके परिणाम-स्वरूप जब धनुर्भंग के बाद भगवान राम का विवाह होता है, तो सीताजी भी वहाँ आ जाती हैं। इस प्रकार मनु ने महाराज दशरथ के रूप में उन दोनों को संयुक्त रूप में पा लिया। महाराज जनक थे महान् विरागी तथा निष्काम और महाराज मनु थे रागी और सकाम। भगवान मनु से बोले – तुम्हें जो माँगना हो, माँग लो –

मागहु बर जोइ भाव मन । १/१४८,

पर वे इतना कहकर नहीं रुके, बल्कि उनके अगले वाक्य से तो ऐसा लगता है मानो कोई अपनी ही प्रशंसा कर रहा हो। यदि आप किसी के घर जायँ और वह आपसे कहे कि आपको क्या चाहिए? तब तो ठीक है, पर यदि वह यह भी कहे कि मेरे समान कोई दानी नहीं मिलेगा, तब तो लगेगा कि वह अपने मुँह से अपनी ही प्रशंसा कर रहा है। भगवान ने इतना ही नहीं कहा कि वर माँगो, साथ ही यह भी कह दिया – यह समझकर माँगो कि मैं महादानी हूँ –

मागहु बर जोइ भाव मन
महादानि अनुमानि ।। १/१४८

पर भगवान का अभिप्राय आत्मप्रशंसा नहीं था। यह तो उन्होंने मनु को उकसाने के लिए, उनका संकोच छुड़ाने के लिए कहा। भगवान का अभिप्राय यह था – महाराज मनु, यदि आप निष्काम बन जाएँगे, कुछ नहीं माँगेंगे, तब तो मेरे साथ बड़ा अन्याय होगा। – क्या? बोले – "मुझे तो महादानी की उपाधि मिली हुई है और यदि कोई माँगनेवाला न मिले तो मेरे उपाधि की सार्थकता ही क्या है? वह तो व्यर्थ ही चली जाएगी। अत: आप जरूर कुछ माँगिए, ताकि मेरी उपाधि तो बनी रहे। यदि सभी निष्काम हो जाएँगे, मुझसे कुछ माँगेंगे ही नहीं, तो मेरे इस महा-उपाधि का क्या होगा?"

इस सन्दर्भ में गोस्वामीजी की विनय-पत्रिका में कही हुई बात याद आती है। वे भगवान की सभा में गए। पहुँचकर पहले तो प्रसन्न हुए, बाद में गम्भीर हो गए। प्रभु ने पूछा – आए तब तो प्रसन्न थे, अब गम्भीर कैसे हो गए? गोस्वामीजी बोले – महाराज, मैंने सुना था कि आपका नाम पतित-पावन है, तो बड़ा प्रसन्न होकर चला आया, पर यहाँ आने के बाद मुझे बड़ी निराशा हुई। – क्यों? बोले – "मैंने सोचा कि आप पतित-पावन हैं, तो आपकी सभा में दो-चार पतित तो अवश्य होंगे, पर जिधर भी देखता हूँ बड़े बड़े महापुरुष ही दीख रहे हैं, पतित तो एक भी नहीं दिखता। मुझे तो आपका यह पतित-पावन नाम कुछ सार्थक नहीं लगता। लेकिन मेरे पास उपाय है। यदि आप मेरी बात मान लें, तो आपकी उपाधि सार्थक हो जाएगी।" – क्या? – "आप मुझे अपनी शरण में ले लीजिए। इससे लाभ यह होगा कि यदि आपसे कोई पूछे कि आप कैसे पतित-पावन हैं, तो आप मेरी ओर दिखा दीजिए कि तुलसीदास जैसा पापी भी मेरी सभा में है, अत: मैं पतित-पावन हूँ।" विनय-पत्रिका में वे कहते हैं – महाराज, पतित के बिना पतित-पावन कैसे सार्थक होगा –

मैं हरि पतित-पावन सुने ।
मैं पतित तुम पतित-पावन
दोउ बानक बने ।। वि. १६०/१

यहाँ मनु के प्रसंग में भगवान कहते हैं – मनु, यदि तुम माँगोगे नहीं, तो मेरी महादानिता कैसे सिद्ध होगी? महादानी का अभिप्राय क्या है? दानी तो वह है जो अपनी सारी वस्तुएँ दान में दे दे, पर महादानी? भगवान मनु को माँगने की पूरी छूट दे देते हैं। वे अच्छी तरह से जानते हैं कि मनु क्या माँगने वाले हैं, इसलिए कह दिया – मुझे केवल दानी न समझना। दानी तो अपनी वस्तुएँ दान कर देता है, पर मैं तो महादानी हूँ। इसका अभिप्राय है – तुम संकोच मत करना; चाहो तो स्वयं दानी को ही माँग सकते हो। महादानी अर्थात् जो स्वयं को भी दान कर दे। मानो वे संकोच को दूर करके स्वयं ही संकेत दे देते हैं – मैं जानता हूँ, तुम क्या माँगना चाहते हो संकोच न करो, मैं स्वयं को देने के लिए स्वयं प्रस्तुत हूँ।

महाराजा जनक महानिष्काम हैं, बड़े वैराग्यवान हैं। उनके जीवन में कहीं कामना का लेश तक नहीं है। इसलिए भगवान जनकपुर में एक बार भी घोषणा नहीं करते कि मैं महादानी हूँ। वहाँ पर उन्होंने स्वयं को न दानी कहा, न महादानी। क्यों नहीं कहा? किसी ने भगवान से पूछा – आप निष्कामियों से नाता जोड़ते हैं या सकामियों से? भगवान बोले – मैं तो दोनों से नाता जोड़ने को तैयार हूँ। – कैसे? बोले – यदि आप सकाम हों, तो दशरथ की तरह बेटा बना लीजिए और यदि निष्काम हों, तो जनक की तरह दामाद बना लीजिए। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान दोनों तरह से नाता जोड़ते हैं। पिता-पुत्र के नाते में सकामता है और जहाँ कन्या अर्पित की जाती है, वहाँ पर निष्कामता की वृत्ति है, देने की वृत्ति है। भगवान बोले – मुझे न तो लेने में संकोच है और न देने में। जनकपुर में महाराज जनक ने अपनी कन्या का दान किया, तो प्रभु हाथ फैलाकर जानकीजी का पाणिग्रहण कर लेते हैं और कहते हैं – भाई, यदि आप मुझसे कुछ माँगना चाहते हैं, तो माँगिए और कुछ नहीं चाहते, तो दीजिए।

इस प्रकार सीताजी चाहे शान्तिरूपा हों, या भक्तिरूपा हों, या शक्तिरूपा – दोनों महापुरुषों के जीवन में विभिन्न रूप से प्राप्त हो जाती हैं। यही उन्हें पाने का वास्तविक क्रम है। रावण के जीवन का दुर्भाग्य यह है कि उसने सीताजी को पाने के लिए इसके ठीक विपरीत क्रम अपनाया। रावण के जीवन का लक्ष्य भी सीताजी को ही पाना है। किसी के भी जीवन का लक्ष्य दूसरा हो ही नहीं सकता। सीताजी यदि शान्ति हैं, तो कोई व्यक्ति यह नहीं चाहेगा कि हमें शान्ति न मिले। सीताजी यदि शक्ति हैं या भक्ति हैं, तो कोई व्यक्ति यह नहीं कहेगा कि

मुझे शक्ति या भक्ति नहीं चाहिए। यह तो सभी की याचना होती है, चाह होती है कि हमें जीवन में शक्ति मिले, भक्ति मिले, शान्ति मिले। पूरा रामायण केवल इसी सूत्र पर आधारित है। रावण भी सीताजी को पाना चाहता है, पर सीताजी को पाने का जो क्रम है, उसमें एक विशेष संकेत है। रावण ने जो सोच लिया कि वस्तुत: सीता को समग्र अर्थों में तभी पाया जा सकता है, जब उन्हें राम से अलग कर दिया जाय और कुछ समय के लिए ऐसा लगा भी कि वह सीताजी को श्रीराम से अलग करने में समर्थ हो गया। लेकिन क्या सचमुच सीताजी श्रीराम से तब तक अलग हो गई थी और रावण ने उन्हे पा लिया था? वहाँ तो अंगद ने ही रावण की कलई खोल दी। यह प्रसंग आगे आएगा, पर उसका एक सूत्र यह है कि अंगद ने रावण की सभा में जो पाँव रोपकर कह दिया –

जौं मम चरन सकसि सठ टारी।
फिरहिं रामु सीता मैं हारी।। ६/३३/९

रावण तुम या तुम्हारी सभा का कोई भी व्यक्ति अगर मेरे पैर को हटाने में समर्थ हो जाएगा, तो मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि सीताजी को हार जाऊँगा और राम लौट जाएँगे। इसके पीछे कई उद्देश्य हैं, जिसकी चर्चा हम बाद में करेंगे। पर एक जो विशेष उद्देश्य था, वह प्रगट हो गया। – क्या? – रावण ने एक बहुत बड़ा भ्रम पाल रखा था। हनुमानजी ने उसे भक्ति का उपदेश देते हुए कहा था – यदि तुम श्रीराम के चरण-कमलों को हृदय में धारण करो, तो तुम लंका पर चिर काल तक राज्य करते रहोगे –

राम चरन पंकज उर धरहू।
लंका अचल राजु तुम्ह करहू।। ५/२३/१

यह सुनकर रावण हँसने लगा। बोला – यह तो बड़ा भारी दानी बन्दर मिला है मुझे! और यह मुझे लोभ भी दिखा रहा है, तो लंका का! अरे भाई, लंका का राज्य मै नही तो क्या तुम कर रहे हो? देख नहीं रहे कि इस लंका के सिंहासन पर मैं बैठा हूँ। लंका तो मेरी ही है, मुझे मिली हुई ही है। अब तुम्हारे कहने से और क्या मिलना है? तब हनुमानजी ने कहा – पाने का सही अर्थ तुम नहीं जानते। और अब अंगद ने हनुमानजी की व्याख्या को और स्पष्ट किया। रावण जिस समय अंगद का पैर हटाने चला, तो अंगद ने व्यंग्य-भरी दृष्टि से देखते हुए कहा – "रावण, तुम सारे संसार को दिखाने की चेष्टा करते हो कि तुमने तो सीताजी को पा लिया है, लेकिन तुमने यदि सचमुच उन्हें पा लिया होता, तो मेरे कहने पर फिर से पाने की चेष्टा नही करते। तुम उठ खड़े हुए इसका अर्थ है कि तुम मुँह से भले ही कहो पर भीतर से? नही, वस्तुत: तुम्हें सीताजी बिल्कुल नही मिली हैं।" हनुमानजी ने रावण के समक्ष यही व्याख्या की थी। हनुमानजी ने पूछा था – रावण, तुमने पाने का क्या अर्थ समझ लिया है? रावण बोला – लंका मेरी है, मैंने उसे पा लिया है। हनुमानजी बोले – तुम पाने का अर्थ नहीं जानते। वस्तुत: पाने का अर्थ यह नहीं है, जो तुम समझ रहे हो। कोई वस्तु यदि व्यक्ति के पास दिखाई दे रही है, तो क्या इसका अर्थ यह होता है कि उसने उस वस्तु को पा लिया है? 'मानस' की एक प्रसिद्ध पंक्ति है – मति, कीर्ति, गति, ऐश्वर्य और भलाई – ये पाँचों वस्तुएँ जब भी किसी को मिली हैं, तो केवल सत्संग के प्रभाव से ही मिली हैं –

मति कीरति गति भूति भलाई।
जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई।।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ।
लोकहुँ बेद न आन उपाऊ।। १/३/५-६

'मानस' मे ऐसा दावा तो किया गया है, परन्तु व्यवहार में यह दावा बिल्कुल सत्य दिखाई नहीं देता। ऐसे अनेक व्यक्ति दिखाई देते है, जो कभी भूलकर भी सत्संग में नहीं जाते, पर बड़ी तीव्र बुद्धि के होते हैं। ऐसे भी कई लोग हैं, जिनकी बड़ी कीर्ति है, बड़ा नाम है और उन्होंने कभी सत्संग का आश्रय नहीं लिया। ऐसे भी कई धनी व्यक्ति हैं, जो सत्संग में प्रेम नहीं रखते, पर उनके पास अगाध धन भरा हुआ है। तो फिर 'मानस' का यह दावा क्या सही है? इसका उत्तर यह है कि 'मानस' में जिस अर्थ में इनका मिलना माना गया है, उस अर्थ में यह दावा बिल्कुल सही है। बुद्धि, धन या कीर्ति मिलने का क्या अर्थ है? यहाँ भी वही हनुमानजी द्वारा दिया हुआ सूत्र ही लगेगा। यहाँ अभिप्राय यह है कि वस्तु के मिल जाने के बाद यदि व्यक्ति को उसके मिल जाने का आनन्द प्राप्त हो जाय, तब तो उस मिलने की सार्थकता है।

इसको यों कहें कि मानो किसी व्यक्ति को हीरा मिल गया और उसके बाद भी वह भूखों मर रहा है। ऐसी स्थिति में यदि उसके पास सचमुच ही हीरा हो और यदि वह उसका मूल्य प्रगट कर सके, तो वह दरिद्रता का कष्ट क्यों पाएगा? ठीक इसी प्रकार बहुतों ने व्यावहारिक अर्थो में तो बुद्धि को पा लिया हो, पर जिसको बुद्धि पाना कहते हैं, जो बुद्धि का चरम उद्देश्य है, बुद्धि के मिलने पर जो मिलना चाहिए, वह यदि नहीं मिला, तो इस पाने की क्या सार्थकता? तात्पर्य यह कि वह बुद्धि को अपने सिर पर ढो रहा है। **सिर पर जो वस्तु होती है, वह मूल्यवान भी होती है और बोझ भी। बुद्धि तो सिर में ही होती है न! इसलिए वह कुछ लोगों के लिए बोझ हो जाती है।** इसका अर्थ है कि बुद्धि हमारे जीवन के बोझ को हल्का कर दे, तब तो उस बुद्धि के मिलने में सार्थकता है, परन्तु यदि वह स्वयं हमारे लिए एक बोझ बन जाय, तब तो वह एक विडम्बना हो गई। इसे आप यों कह लीजिए कि जब आप बाजार में कोई वस्तु खरीदते है और सामान यदि अधिक हो जाय, तो आप क्या करते हैं? एक मजदूर को बुलाकर सारा सामान उसके सिर पर रख देते हैं।

अब आप तो बिल्कुल खाली हाथ चले जा रहे हैं और सारा सामान वह मजदूर ढो रहा है। मजदूर के सिर पर रखा हुआ यह सारा सामान उसका है या आपका? तात्पर्य यह कि उस बेचारे को तो ढोना-ही-ढोना है और आप उसे थोड़ा-सा पारिश्रमिक देकर श्रम से बच गए। उसने तो केवल ढोया। दिखाई तो दे रहा था कि सारा सामान उसके पास है, मानो उसी का हो, पर वस्तुत: वह उसका नहीं है।

इसी प्रकार 'मानस' का तात्पर्य यह है कि बुद्धि का बोझ तो बहुत-से लोग ढो रहे हैं, कीर्ति का बोझ तो बहुत-से लोग ढो रहे हैं, निरन्तर यही चिन्ता लगी है कि कहीं हमारी कीर्ति नष्ट न हो जाय। ऐश्वर्य पाने के लिए व्यग्र हैं, निरन्तर चिन्ता लगी हुई है कि कहीं ऐश्वर्य चला न जाय, निरन्तर सजग रहकर पहरा दे रहे हैं, केवल चौकीदारी किए जा रहे हैं। इन वस्तुओं – **मति, कीर्त्ति, गति, ऐश्वर्य और भलाई को पाने का वास्तविक अर्थ क्या है?** सच्चे अर्थों में इनकी प्राप्ति का क्या तात्पर्य है, यह तो किसी सन्त के माध्यम से ही समझा जा सकता है। सच्चे अर्थों में पाने का अभिप्राय कोई सत्संग के माध्यम से ही समझ सकता है।

बुद्धि मिलने का अभिप्राय क्या है? **सा विद्या या विमुक्तये** – इसका अभिप्राय यह है कि यदि व्यक्ति को सचमुच ही बुद्धि मिल जाएगी, तो इसके परिणामस्वरूप उसे तत्वज्ञान और ईश्वर का बोध होगा। लेकिन यदि बुद्धि पाकर उसे बुद्धिमत्ता का अभिमान हो गया, तब तो बुद्धि पाने का कोई लाभ ही नहीं हुआ। हनुमानजी ने रावण से यही कहा – तुम समझ रहे हो कि तुमने लंका पा ली है, पर मैं तो कहूँगा कि तुमने लंका को पाया ही नहीं हैं –

> **राम बिमुख संपति प्रभुताई।**
> **जाइ रही पाई बिनु पाई।।**
> **सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं।**
> **बरषि गएँ पुनि तबहिं सुखाहीं।। ५/२३/५-६**

नदी की सार्थकता तभी है, जब वह अपने मूल स्रोत से जुड़ी हो। वैसे तो जब जल की आवश्यकता नही होती, तब तो बिना स्रोत की नदी भी जल से भरी-पूरी दिखाई देती है। वर्षा ऋतु में तो सड़कों पर भी नदियाँ दिखाई देती हैं, पर जब गर्मी का मौसम आता है, तब कही भी जल दिखाई नही देता और तब वह बिना स्रोतवाली नदी सूख जाती है। हनुमानजी का अभिप्राय था कि रावण, तुम मूल से विच्छिन्न होकर समझ बैठे हो कि लंका पर तुम्हारा अचल राज्य है।

आगे चलकर अंगद ने दोनों की व्याख्या की। हनुमानजी के शब्दों की व्याख्या अंगद ने कर दी। हनुमानजी ने कहा था – लंका अचल ...। 'लंका' के साथ 'अचल' शब्द जोड़कर उन्होंने रावण को बताया था कि वस्तुत: तुम अभी लंका के अचल राजा नहीं हो। हनुमानजी का संकेत यह था – रावण, तुमसे पहले भी कितने ही लोग लंका के सिंहासन पर बैठे और चले गए। जब यह पद ही चल है, तो तुम भी चले जाओगे और तुम्हारे बाद कोई और इस पर आकर बैठ जाएगा। मैं तो तुम्हें अचल बनाने की बात कर रहा हूँ। रावण हँसता है। कहता है – "मेरा राज्य तो अचल है, उसे तुम क्या और अचल करोगे। मैं सिंहासन पर बैठा हुआ हूँ, मैं कभी मरूँगा नहीं, मेरा पद तो अचल है ही।" अंगद ने रावण के दोनों भ्रम तोड़ दिए – लंका का राज्य अचल होने का भ्रम तोड़ दिया और सीताजी को पाने का भ्रम भी तोड़ दिया। इसके साथ ही उन्होंने रावण की कलई भी खोलकर रख दी।

लंका का राज्य अचल है – इस भ्रम को अंगद ने कब तोड़ा? तब, जब रावण की सभा में अंगद ने उसे मुक्का मारा और रावण मुँह के बल सिंहासन से नीचे गिर पड़ा। इसके बाद अंगद ने कहा – "जब एक बन्दर के मुक्के से ही तुम्हारा सिंहासन चल हो गया, तो सोच लो कि राम के मुक्के से क्या होगा। यही तो तुम्हारे अचल राज्य की दशा है? देखा न, एक बन्दर ने मुक्का चलाया और तुम्हारा सिंहासन चल हो गया। अरे, इस भ्रम में मत रहो कि यह अचल है। यह बिल्कुल चल है, बिल्कुल क्षणिक वस्तु है।" इसी तरह रावण यह भी दिखाया करता था कि उसने सीताजी को पा लिया है। लेकिन जिस समय अंगद के पाँव उठाने को रावण झुका, तो अंगद ने तत्काल कहा – "रावण, अब तो यह स्पष्ट हो गया कि तुमने सीताजी को पाया नहीं है। तभी तो तुम प्रयत्न कर रहे हो। प्रयत्न तो बुरा नहीं है, पर प्रयत्न का जो सही मार्ग है, उसे तो तुमने छोड़ दिया है।" – कौन-सा? बोले – क्या मेरे पाँव पकड़ने से सीताजी मिलेंगी? तब? –

> **गहत चरन कह बालिकुमारा।**
> **मम पद गहें न तोर उबारा।।**
> **गहसि न राम चरन सठ जाई। ६/३५/२-३**

सीताजी तो बन्दर के चरण पकड़ने से नहीं, श्रीराम के चरण पकड़ने से मिलती हैं। इसलिए तुम्हें उन्हें पाना चाहिए, जिन्हें पाने से ईश्वर के चरणों की सच्ची भक्ति मिलती है। यह अंगद के द्वारा दिया गया सूत्र था। इस विस्तृत प्रसंग का सूत्रात्मक अभिप्राय यह है कि **जीवन का चरम लक्ष्य सीताजी की प्राप्ति ही है**। रावण जैसे लोग भी उन्हीं को पाना चाहते हैं। कभी यह भ्रम भी उत्पन्न कर लेते हैं कि मैंने उन्हें पा लिया है, पर सही अर्थों में उनके लिए उन्हें पाना अभी बाकी है।

❖ (क्रमशः) ❖
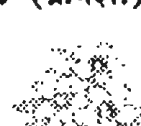
चरित्र का आधार

स्वामी सत्यरूपानन्द

अंग्रेजी में एक कहावत है, यदि धन की हानि हुई तो वह कोई बात नहीं है किन्तु यदि स्वास्थ्य की हानि हुई तो वह बड़ी हानि है और यदि चरित्र की हानि हुई, तो वह सर्वनाश ही है।

यह कहावत जीवन में हमें दिशा दे सकती है। आज के इस भौतिकवादी युग में लोगों की यह धारणा हो गई है कि जीवन की सफलता व सुख के लिए धन ही सब कुछ है। बिना धन के मनुष्य न सफल हो सकता है और न सुख ही प्राप्त कर सकता है। पर यह धारणा सत्य से परे है।

जीवन-यापन के लिये धन की आवश्यकता तो है, किन्तु धन ही सर्वस्व नहीं है। धन कमाना ही मानव जीवन का लक्ष्य नहीं है - अच्छा स्वास्थ्य, सुखी और सफल जीवन की एक मौलिक जरूरत है। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निवास होता है। मन स्वस्थ और शरीर सबल हो तभी जीवन में सफलता भी मिलती है।

अतः हमें सदैव ध्यान रखना होगा कि हमारे शरीर तथा मन स्वस्थ और सबल रहें। यदि कभी किसी कारण से स्वास्थ्य की हानि हो तो, तुरन्त ही सावधान होकर पुनः स्वास्थ्य लाभ का भरसक प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि स्वास्थ्य की हानि जीवन की बहुत बड़ी हानि है। स्वस्थ व्यक्ति ही जीवन को सफल व सार्थक बनाने में समर्थ होता है।

जीवन की सबसे बड़ी हानि है, चरित्र की हानि। यदि व्यक्ति का चरित्र गिर गया, उसके चरित्र की हानि हो गई तो उसका सब कुछ नष्ट हो जाता है। अतः हमें पूर्णतः सजग और सावधान होकर अपने चरित्र रूपी महान् धन की रक्षा में सदैव तत्पर रहना चाहिये।

यह इसलिये आवश्यक है कि चरित्र हमारे पहनने के वस्त्र या मेज-कुर्सी आदि के समान कोई पूर्णतः निर्मित वस्तु नहीं है कि वस्तु बनकर तैयार हुई और हमने उसका उपयोग प्रारम्भ कर दिया। अब उसमें किसी सुधार की आवश्यकता नहीं है। बस, वस्तु का उपयोग किये चलिये।

चरित्र तो क्रमशः निर्माण, सुधार और उन्नति की निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। यदि चरित्र की निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया शिथिल हुई, तो चरित्र का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है तथा धीरे-धीरे चरित्र नष्ट हो जाता है।

चरित्र के मौलिक आधार हैं - पवित्रता, निःस्वार्थता और प्रेम। चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया है आत्मनिग्रह। यदि व्यक्ति में आत्मनिग्रह न हो तो उसके जीवन में पवित्रता, निःस्वार्थता और प्रेम नहीं आ सकते। अतः उसका चरित्र-निर्माण भी नहीं हो सकता। ये सभी सात्विक गुण सतत वर्धमानशील होते हैं। इनका निरन्तर आचरण और विकास करते रहने पर तब कहीं चरित्र का निर्माण होता है। प्रत्येक चरित्रवान व्यक्ति अथक परिश्रमपूर्वक अपने जीवन में इन गुणों का आचरण करता है, इसलिये वह चरित्रवान होता है।

जिस समाज में सतत प्रयत्नशील चरित्रवान लोगों की संख्या जितनी अधिक होती है वह उतना ही उन्नत, सुसस्कृत तथा समृद्ध होता है। अतः स्वय के चरित्र का निर्माण कर हम समाज की भी महती सेवा कर सकते हैं। देश की उन्नति व समृद्धि का रहस्य भी उत्तम चरित्र ही है। ❑❑❑

जीने की कला (१५)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं । उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई । इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागो मे निकला है । इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं । अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं । – सं.)

प्रेम की विजय

अपने सुन्दर ग्रन्थ 'प्रेम की शक्तियाँ' में प्रिट्रिम सोरोकिन कहते हैं, "निस्वार्थ प्रेम में अत्यधिक, अधिकांश लोगों की कल्पना से भी अधिक रचनात्मक तथा आरोग्यकारी क्षमताएँ होती हैं। प्रेम शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक स्वास्थ्य के लिए जरूरी एक संजीवनी शक्ति है । परोपकारी लोग अहंकारी लोगों की अपेक्षा अधिक दीर्घायु होते हैं । स्नेह से वंचित बच्चे जीवनी-शक्ति, नैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से क्षीण हो जाते हैं । अपराधी, रुग्ण तथा आत्मघाती प्रवृत्तियों और घृणा, भय एवं स्नायु-रोगों के लिए प्रेम सर्वाधिक सबल प्रतिरोधक है । गहन तथा स्थायी सुख के लिए यह एक अपरिहार्य कारक है । यह अच्छाई तथा स्वाधीनता का सर्वोच्च रूप है । मानवता के उत्कर्ष हेतु यह सर्वश्रेष्ठ और सर्वसमर्थ शिक्षापरक शक्ति है । सभी मनुष्यों के प्रति समर्पित अपार प्रेम की शक्ति ही इस धरा के अन्तर्मानवीय संघर्षों पर विजय पाकर मानव द्वारा मानव की अनिर्णीत परीक्षाओं को रोक सकती है । प्रेम के बिना कोई भी शस्त्रीकरण, युद्ध, कुटनीतिक चालें, उत्पीड़क पुलिस बल, विद्यालयीय शिक्षा, आर्थिक या राजनीतिक उपाय और हाइड्रोजन बम तक, इस आसन्न अनर्थ को नहीं रोक सकते। यह चमत्कार तो बस प्रेम ही कर सकता है, बशर्ते हम उसके स्वरूप को ठीक ठीक जान लें तथा इसके उत्पादन, संचय तथा उपयोग के सक्षम उपायों से भी परिचित हो जायँ ।"

प्रेम अमृतस्वरूप है । देखने में आया है कि इसमें शारीरिक और मानसिक विकारों के उपचार की भी शक्ति विद्यमान है । मन में घृणा का भाव रखनेवाला व्यक्ति न केवल अपना मानसिक सन्तुलन खोता है, अपितु अपने जीवन और स्वास्थ्य को भी क्षति पहुँचाता है । दूसरी ओर प्रेम, सहानुभूति तथा मैत्रीभाव न केवल व्यक्ति को मानसिक शान्ति कायम रखने में योगदान करते हैं, अपितु ये एक सन्तुलित दृष्टिकोण भी पैदा करते हैं । इन गुणों से युक्त हुआ व्यक्ति, हर तरह की बाह्य परिस्थिति के बीच शान्ति और आनन्द का अनुभव करेगा ।

बालकों के विकास के लिए मातृसुलभ प्रेम बहुत जरूरी है । भावपूर्ण प्रेम से वंचित होनेवाले बालक बीमार हो जाते हैं और बीमार होते ही संक्रमण, क्षुधा या असन्तुलित आहार के कारण उनकी मृत्यु हो जाती है । इस विषय में रेने ए. स्पिट्ज द्वारा नवीनतम शोध किया गया है । उन्होंने एक अनाथालय में ३४ लावारिस शिशुओं की मृत्यु को फिल्माते हुए उसका रिपोर्ट तैयार किया । अनाथालय में उन शिशुओं को मातृप्रेम के अलावा हर तरह की देखभाल और सुविधाएँ उपलब्ध थीं । मातृप्रेम का अभाव ही उनकी मृत्यु का कारण सिद्ध हुआ । डॉ. स्पिट्ज ने बच्चों की प्राणशक्ति के निस्तेज होने की पूरी प्रक्रिया का फिल्मांकन किया था और दर्शक इसे देख और समझ सकते हैं । अपने माता-पिता से वियोग के तीन महीने बाद शिशुओं की भूख चली गई, उन्हें ठीक से नींद नहीं आती थी और वे सिकुड़े, काँपते तथा रोते रहते थे । दो महीने और बीतने पर वे जड़बुद्धि प्रतीत होने लगे । जन्म के पहले वर्ष में २७ और दूसरे वर्ष में ७ लावारिस शिशुओं की मृत्यु हो गई । २१ शिशु ही बचे रहे, पर वे भी इतने बदल गए कि बाद में उन्हें 'जड़बुद्धि' की श्रेणी में ही रखा जा सकता था ।

मानसिक तथा नैतिक विकारों के इलाज और उनके रोकथाम में प्रेम की आरोग्यदायी शक्ति विशेष महत्वपूर्ण है । नवजात शिशुओं के नैतिक तथा मानसिक रूप से स्वस्थ मनुष्यों के रूप में विकास होने के लिए प्रेम का आदान और प्रदान दोनों ही अत्यन्त आवश्यक हैं । प्रेम न केवल व्यक्ति के मन तथा शारीरिक अवयवों का उपचार करके उसे स्फूर्ति प्रदान करता है, अपितु यह उसके विकास और मानसिक, नैतिक, हार्दिक तथा सामाजिक समृद्धि की एक निर्णायक तथ्य सिद्ध होता है । ... प्रेम करना और प्रेम प्राप्त करना – सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'विटामिन' का काम करते हैं और ये व्यक्ति के सम्यक् विकास तथा सुखमय जीवन के लिए अपरिहार्य हैं ।"

सेवा की भावना

बहुत-से लोग प्रेम तथा लगन के साथ अपने प्रियजनों की सेवा करते हैं; परन्तु कभी कभी सेवा करनेवाला अपने सेव्य पर अधिकार का भाव रखते हुए, उसे सर्वदा स्वयं पर आश्रित रखने का प्रयास कर सकता है । प्रेम के नाम पर वह उस पर बल का प्रयोग करते हुए उसके शोषण का प्रयास कर सकता है । वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संकेत दे सकता है कि 'मेरी सेवा के बिना तुम असहाय होते'। वह यह भी कह सकता है कि 'मेरी सेवा का मुझे कोई प्रतिदान नहीं मिला'। वह सेवा के लिए बारम्बार धन्यवाद ज्ञापन की अपेक्षा रख सकता है । वैसे इस प्रकार अपनी सेवा के ज्ञापन की अपेक्षा रखनेवाले, कम-से-कम उन लोगों से तो बेहतर ही हैं, जो घोर स्वार्थी हैं

और सहायता करने से साफ मना कर देते हैं। परन्तु यह सेवा विशुद्ध और नि:स्वार्थ प्रेम का द्योतक नहीं है। यह नि:स्वार्थ प्रेम की ओर बढ़ने का एक कदम मात्र ही कहा जा सकता है। परन्तु हर कोई उस अवस्था तक नहीं पहुँच पाता।

प्रेमपात्र की स्वाधीनता तथा स्वाभिमान पर प्रतिकूल रूप से प्रभावित किए बिना ही सच्चा प्रेम अभिव्यक्त होता है। वह किसी प्रतिदान की माँग नहीं करता। आध्यात्मिक मनोभाव से युक्त तथा मातृत्व के आदर्श को स्वीकार करनेवाली एक माता प्रेम के नि:स्वार्थ तथा दैवी गुण का दृष्टान्त प्रस्तुत करती है।

आत्मीयता की सीमाएँ

सत्यभाभा ने एक बार द्रौपदी से पूछा, "आप किस प्रकार अपने पतियों को वश में रखती हैं? अपने पति श्रीकृष्ण को वश में करने के लिए मैं भी वही उपाय अपनाना चाहती हूँ।" द्रौपदी जानती थी कि कृष्ण तो पहले से ही सत्यभाभा के वश में हैं। तथापि द्रौपदी ने उसे अपने पाँचों पतियों से प्राप्त प्रेम का रहस्य समझाते हुए कहा, "मेरे पाँचों पति सौम्य, सत्यनिष्ठ तथा सद्गुणी हैं, पर मैं उनकी निरन्तर इस प्रकार सेवा करती हूँ मानो वे निर्दयी तथा क्रोधी हों। मैं उनकी अच्छाई पर निर्भर नहीं करती। उनकी जरूरतों की पूर्ति में मैं निरन्तर सजग तथा सावधान रहती हूँ। स्त्री के लिए उसका पति ही सर्वस्व है; वही साक्षात् ईश्वर तथा एकमात्र ध्येय है। अपने पति के प्रति निष्ठा रखना ही स्त्री की एकमात्र धर्म-साधना है। मैं बड़ों के प्रति भी श्रद्धा तथा सम्मान का भाव रखती हूँ। मैं अपनी सास की बातों का सीधा जबाव नहीं देती। मैं उनके स्नान, भोजन, वस्त्र आदि दैनिक जरूरतों का ध्यान रखती हूँ। उनके भोजन या विश्राम के पूर्व मैं भोजन या विश्राम नहीं करती। मैं धरती माता के समान उनकी पूजा करती हूँ। महल में जब अतिथि के रूप में हजारों विद्वान् तथा महात्मा आते थे, तो मैं उनमें से प्रत्येक के आतिथ्य की निगरानी करती थी। महल में हजारों दासियाँ थी, पर मैं उनमें से प्रत्येक को नाम से जानती थी। मैं उनकी जरुरतों, कठिनाइयों और समस्याओं से परिचित थी। मैं युधिष्ठिर की घुड़साल के हजारों घोड़ों के रख-रखाव की व्यवस्था करती थी। मेरे पतियों ने घरेलू मामलों का भार मेरे ऊपर छोड़कर स्वयं अपने प्रशासनिक कर्तव्यों में मनोनियोग किया था। सभी ज़िम्मेदारियों को पूरा कर पाना सहज नहीं था, परन्तु मैं चुनौतियों के सामने हथियार डालना पसन्द नहीं करती। दिन-रात परिश्रम करके मैंने सब कुछ सँभाल लिया। प्रात:काल बाकी लोगों के उठने के पहले ही मैं उठ जाती थी। और सबके सो जाने पर ही मैं सोने जाती थी। अपने पतियों का प्रेम जीतने के लिए मैंने यही सब किया था।"

यद्यपि सत्यभाभा श्रीकृष्ण से अत्यधिक प्रेम करती थीं, परन्तु आत्मीयता के कारण कभी-कभार वे उनकी उपेक्षा कर बैठती थीं। द्रौपदी के उपदेशों ने उन्हें उनकी त्रुटियों का बोध कराकर उनमें परिवर्तन ला दिया।

अत: यह ध्यान रखना होगा कि प्रेम तथा आत्मीयता के फलस्वरूप कहीं उपेक्षा का भाव न आ जाय।

प्रेम की दुर्लभता

स्वार्थपरता के कारण इस जगत् में शुद्ध या निश्छल प्रेम एक दुर्लभ गुण बनकर रह गए हैं। स्वार्थपरता ने धनी-गरीब, विद्वान्-अपढ़ – सबको वशीभूत कर रखा है। इसने झोपड़ी तथा महल के निवासियों के बीच का भेद मिटा दिया है। यह जाति, धर्म या सम्प्रदाय का भेद भी नहीं मानती। इस संसार में जब तक पुन: यह नि:स्वार्थ प्रेम स्थापित नहीं हो जाता, तब तक मानव-जाति शान्ति और सन्तोष का आस्वादन नहीं कर सकती। एक बड़े शिक्षा-संस्थान के सचिव का मार्मिक अनुभव इस प्रकार है – "नौ वर्ष का एक बालक दूसरी कक्षा में पढ़ रहा था। वह अपने सहपाठियों, विशेषकर बालिकाओं से पैसे माँगा करता था। कभी तो वह भद्र व्यवहार करता, परन्तु कभी कभी धमकियाँ देकर भी वह पैसे ऐंठ लेता था। हर दिन वह पाँच से लेकर पच्चीस पैसे तक उधार माँग लेता। वह वादा करता, 'माँ के घर लौटते ही, मैं पैसे लौटा दूँगा।' बच्चों के माता-पिता ने बालक के उक्त अपराध के बारे में प्रधानाध्यापिका से शिकायत की। प्रधानाध्यापिका तथा कक्षाध्यापक उस बालक को लेकर मेरे पास आए और उसके दुर्व्यवहार का विवरण देने लगे। किसी कठोर शब्द का प्रयोग किए बिना ही मैंने उक्त बालक से बातचीत की। बालक ने नि:संकोच भाव से तथा साहसपूर्वक मेरे प्रश्नों का उत्तर दिया, 'सुबह मुझे घर में कुछ खाने को नहीं मिलता, इसलिए मैं कुछ खरीदने को उनसे पैसे माँगता हूँ।' उस बालक के अभिभावकों ने उसे विद्यालय के नि:शुल्क नाश्ते को ग्रहण करने की अनुमति नहीं दी थी। उसके पिता सिंगापुर में थे। उसकी माँ का देहान्त एक वर्ष पूर्व हो चुका था, परन्तु बालक को इसकी सूचना नहीं दी गई थी। वह उस दिन की बाट जोह रहा था, जब उसकी माँ आकर उसे जरा भी प्रेम न करनेवाले इन अभिभावकों के चंगुल से छुड़ा लेगी। उसके साथ देर तक बातें करने के बाद मैंने कहा, 'तुम्हें किसी से पैसा माँगने या उधार लेने की जरूरत नहीं है। विद्यालय में ही हम तुम्हारे भोजन का प्रबन्ध कर देंगे और तुम्हें पुस्तकें तथा पेंसिलें भी देंगे। चिन्ता मत करो। तुम्हें और क्या चाहिए?' इतना जिद्दी और हठी-सा दिखनेवाला वह बालक सिसकते हुए कहने लगा, 'मुझे मेरी माँ चाहिए। मुझे मेरी माँ दिला दीजिए। मैं अपनी माँ से मिलूँगा।' शोकार्त बालक की सिसकियाँ सुनकर हम लोग भी अपने आँसू बड़ी मुश्किल से ही रोक पा रहे थे। हमने उसे निकट बुलाकर उसे दिलासा दी और उसे माँ सारदा देवी का एक चित्र देकर कहा, 'इन्ही को

अपनी माँ समझकर इनसे प्रार्थना करो। ये तुम्हारा मार्ग-दर्शन करेंगी।" बालक शान्त होता-सा लगा। परन्तु अगले दिन से उसने विद्यालय आना बन्द कर दिया। उसके अभिभावक यह जानने आए कि विद्यालय में क्या बातचीत हुई थी और उसका स्थानान्तरण प्रमाणपत्र (टी.सी.) ले जाकर किसी अन्य विद्यालय में उसका दाखला करा दिया। सच्चे नि:स्वार्थ प्रेम की बात को तो छोड़िए, वह बालक सामान्य प्रेम से भी वंचित था।'

पिता के प्रेम से वंचित एक बालिका ने अपनी माँ के प्रति सहानुभूति के स्वर में कहा था, "यदि मैं अपनी माँ के स्थान पर होती, तो अपने पति को उनके भाग्य के भरोसे छोड़कर चली गई होती।" इस घटना की पृष्ठभूमि इस प्रकार है – उनका एक सम्भ्रान्त परिवार था, जिसमें रिश्तेदारों तथा सहायकों की कोई कमी नहीं थी। उनकी आर्थिक स्थिति भी बुरी न थी। परन्तु उक्त बातें सुनानेवाली बालिका के पिता शराबी थे और मद्यपान करके देर रात घर लौटने के बाद छोटी-मोटी बातों पर अपनी पत्नी से झगड़ा तथा गाली-गलौज करते हुए उसे मारा-पीटा करते थे। छोटी आयु की वह बालिका कच्ची नींद से जागकर आतंकित भाव से अपने पिता की क्रूरता और माँ की पीड़ा को देखती थी। थोड़ी देर तक वह भी माँ के साथ रोते हुए आखिरकार थककर सो जाती थी। केवल स्कूल में ही वह अपने पिता के विरुद्ध बोलने को स्वतंत्र थी। कुल मिलाकर, घर के परिवेश ने एक ओर तो उसमें आतंक और दूसरी ओर पुरुष वर्ग के प्रति घृणा का भाव भर दिया। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इसने उसके व्यक्तित्व पर बड़ा प्रतिकूल असर डाला।

मदर टेरेसा कहती हैं, "सेवा के क्षेत्र में अन्य लोगों के साथ बीस वर्षों तक कार्य करने के बाद एक बात मेरे लिए स्पष्ट हो गई है। कोई व्यक्ति जिस सबसे निकृष्ट प्रकार के अपमान से पीड़ित हो सकता है, वह है यह भाव कि 'मुझे कोई नहीं चाहता'। हमने कुष्ठरोग की दवाइयाँ ढूँढ़ ली हैं, तपेदिक का भी इलाज है और बहुत-से लोग चिकित्सा के बाद स्वस्थ भी हो चुके हैं। अन्य भी सैकड़ों रोगों का इलाज ढूँढ़ा जा चुका है, पर प्रेम से वंचित होने के रोग का इलाज कहाँ है? प्रेम से परिपूर्ण हृदय तथा सेवा को तत्पर हाथवाले लोग ही प्रेम से वंचित होने की व्याधि को दूर भगा सकते हैं।"

घर के बड़े-बूढ़ों या सगों के प्रेम से वंचित होने का दुर्भाग्य झेल रहे लोगों के दु:ख को कौन मिटा सकता है? किसी को प्रेमभरी दृष्टि से देखने में कोई खर्च नहीं आता। वस्तुत: हर व्यक्ति के पास प्रेम का अक्षय भण्डार है। प्रेम देनेवाले और प्रेम पानेवाले लोग धन्य हैं। दोनों ही सुख और सन्तोष की अनुभूति करते हैं। प्रेमी और प्रेमपात्र – दोनों के हृदय खिल उठते हैं। परन्तु यह कैसी विचित्र बात है कि इस सामान्य प्रेम का दान करनेवाले लोग भी कम ही हैं? सियाराम शरण गुप्त कहते हैं, "अरे प्यार का प्याला रहते, भाया तो क्यों जहर तुम्हें?" इसका कारण अज्ञान और उचित प्रशिक्षण का अभाव है। सामान्य तथा सच्चे आध्यात्मिक प्रेम – दोनों ही न जानने वाला व्यक्ति भला कैसे दूसरों को प्रेम के महत्त्व का उपदेश दे सकता है? पर एक बात निश्चित है। सच्चे प्रेम का उदय होने पर हृदय की दुर्बलताएँ तथा अन्य सभी दुर्गुण तिरोहित हो जाते हैं और प्रेम का बन्धन सुदृढ़ होता जाता है।

प्रेम की शक्ति

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था, "सारा संसार विशुद्ध प्रेम पाने को व्याकुल है। हमें बदले में कुछ पाने की आशा रखे बिना ही इस प्रेम का वितरण करना चाहिए। वापस पाने की कोई इच्छा किये बिना ही इसे अर्पित करो।"

"प्रेम कभी निष्फल नहीं होता; कल हो या परसों या युगों के बाद, पर प्रेम की विजय अवश्य होगी। प्रेम ही मैदान जीतेगा। क्या तुम अपने भाइयों से प्रेम करते हो? समाचार-पत्रों में क्या छपता है और क्या नहीं, मैं कभी इसकी खबर नहीं लेता। प्रेम की असाध्य-साधिनी शक्ति पर विश्वास करो। यदि तुम्हारे पास नि:स्वार्थ प्रेम है, तो तुम सर्वशक्तिमान हो।"

सत्य ही हम सबमे एकता का संचार करता है। प्रेम ही सत्य है; घृणा ही असत्य है। घृणा हमें बाँटकर हमारे बीच शत्रुता उत्पन्न करती है। यह मनुष्यों को मनुष्यों से अलग-थलग कर देती है। इसलिए यह दोषपूर्ण और मिथ्या है। घृणा एक विनाशकारी शक्ति है। प्रेम एकीकरण की शक्ति है। प्रेम लोगों को एक साथ आबद्ध रखता है। माँ, बालक, परिवार, नगर, पूरा संसार और पशु – सभी प्रेम से ही आबद्ध रहते हैं। प्रेम ही जीवन के सामंजस्य की प्रचालक शक्ति है।

प्रेम का स्पन्दन

एक सत्य घटना इस प्रकार है। भारत में रहनेवाले एक माता-पिता का इकलौता पुत्र अमेरिका में एक सुख्यात् चिकित्सक था। वहाँ उसने काफी नाम-यश कमाया। परन्तु दुर्भाग्यवश उसके तथा उसकी पत्नी के बीच मतभेद पैदा हो गए। जीवन से निराश होकर उसने खुद को गोली मार ली। उसी दिन उसकी माँ ने स्वप्न देखा कि उसका पुत्र खून से लथपथ मरा पड़ा है। जागने के बाद उसका मन बड़ा बेचैन हो गया। अगले दिन उसे टेलीफोन से इस दुखद घटना की सूचना मिली। माँ का हृदय करुणा एवं विषाद से पूर्ण हो उठा।

किसी पुत्र का दुर्भाग्य दूर स्थित माँ के हृदय को प्रभावित कर दे – इसका यह कोई एकमात्र उदाहरण नहीं है। ऐसे असंख्य उदाहरण मिले हैं। रूस में इस विषय में अनेक प्रयोग हुए हैं। प्रेम का स्पन्दन तरंग की भाँति चलकर अपने प्रियजन के हृदय को स्पर्श तथा प्रभावित करता है।

❖ (क्रमश:) ❖

भारत की वैज्ञानिक परम्परा

भारतरत्न डॉ. अब्दुल कलाम

भारत कभी विदेशों से आए हुए विचारों को अपनाने में पीछे नहीं रहा। इसने अनेक बाह्य विचारों, संस्कृतियों तथा तकनीकों को अपने पर्यावरण और अपनी मेधा के अनुकूल बनाकर उन्हें आत्मसात किया है। हम विदेशों में भी गए और वहाँ भी अपनी संस्कृति को फैलाया। प्रौद्योगिकी के विकास में भी हमने अपना योगदान किया। रकाब, रॉकेट, गणित का संख्या-सिद्धान्त, धातुकर्म तथा जड़ी-बूटी-चिकित्सा आदि कई उदाहरण इस सम्बन्ध में पेश किये जा सकते हैं। आज भी हम अपने कुशल वैज्ञानिकों तथा शिल्पियों को अमेरीका, यूरोप तथा अन्य देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं को समृद्ध करते पाते हैं।

अपने प्राचीन इतिहास के किसी कालखण्ड में हमने स्वयं पर विश्वास करना छोड़ दिया और हमारी यही मनोदशा आज तक बनी हुई है। इसी के चलते एक समय ऐसा आया जब हमने दूसरे विचारों के अन्दर आने के दरवाजे बन्द कर दिये और आपस में ही लड़ने-झगड़ने लगे। फिर समय पलटा और हमने सब विदेशी विचारों एवं आविष्कारों को, बिना सोचे-समझे, अन्धाधुन्ध अपनाना शुरू कर दिया। अपनी सीमाओं के बाहर जो नये विचार और आविष्कार हमें दिखाई दिये, उन्हें हमने अपने उपयोग के लिए ग्रहण कर लिया और अपनी मेधा पर यकीन करना करीब करीब छोड़ ही दिया। आजादी के पचास साल बाद भी हमारी यही हालत है और इसे देखकर बड़ा खेद होता है, ग्लानि होती है। पर कहीं कहीं उजले पक्षों को देखकर थोड़ी आशा भी बँधती है।

विदेशी हमसे हर क्षेत्र से श्रेष्ठ हैं – यह मिथक उन लोगों ने फैलाया है, जिनसे बेहतर सोच की उम्मीद थी। ऐसे लोग सपने में भी नहीं सोच सकते कि हम भी प्रौद्योगिकी में श्रेष्ठता दिखाने की हिम्मत कर सकते हैं। मेरे पास जर्मन भाषा में बड़ी सुन्दरता के साथ छपी हुई एक पुस्तक है, जिसमें 'रिमोट सेंसिंग' पर आधारित यूरोप और अफ्रीका के मानचित्र हैं। जब लोगों को बताया ज़ाता है कि ये चित्र 'भारतीय रिमोट सेंसिंग सैटेलाइट' से लिए गए हैं, तब उन्हें सहसा विश्वास ही नहीं होता। विश्वास तब होता है, जब चित्रों के नीचे छपी लाइन दिखाई जाती है, जिसमें इस तथ्य को स्वीकार किया गया है।

थोड़ा और पीछे जाते हैं। मुझे एक भोज की याद आ रही है, जिसमें कई भारतीय भी मौजूद थे। भोज के दौरान रॉकेट-विद्या पर चर्चा छिड़ गई। तब यह तथ्य सामने आया कि चीनियों ने एक हजार साल पहले बारूद का ईजाद किया था और तेरहवीं सदी में हुई एक लड़ाई में बारूद-चालित रॉकेटों का प्रयोग किया था। बहस के दौरान मैंने अपनी उस कोशिश का जिक्र किया जो मुझे लन्दन में टीपू सुलतान के उन दो रॉकेटों को वूलविच के रॉटुंडा अजायबघर में करनी पड़ी थी।

टीपू ने उन दोनों रॉकेटों का प्रयोग श्रीरंगपट्टन के दो युद्धों में किया था। मैंने कहा कि ऐसा प्रयोग दुनिया की किसी सेना द्वारा पहली बार हुआ था। मैंने यह भी कहा कि अँग्रेजों ने उन रॉकेटों का बारीकी से अध्ययन करके उनमें काफी सुधार कर उनका उपयोग यूरोप में हुई अपनी लड़ाइयों में किया था। यह सुनकर वहाँ मौजूद एक वरिष्ठ भारतीय ने फौरन यह निष्कर्ष लिया कि जरूर टीपू ने यह प्रौद्योगिकी फ्रांसीसियों से सीखी होगी। मैंने बड़ी विनम्रतापूर्वक कहा कि यह सच नहीं है। मैंने बताया कि मैं उन्हें एक पुस्तक दिखा सकता हूँ, जिसमें मेरी बात को प्रमाणित किया गया है। यह किताब प्रख्यात अँग्रेज वैज्ञानिक सर बर्नाड लॉवेल ने लिखी है और इसका नाम है – 'अन्तरिक्ष-अनुसन्धान की अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का उदय'।

टीपू सुलतान के रॉकेटों का अध्ययन करने के बाद, उसके आदि प्रारूप के सुधरे हुए रूप का प्रदर्शन १८०५ ई. में प्रधानमन्त्री विलियम पिट और युद्ध-सचिव लॉर्ड कैसरलिंग के समक्ष किया गया। प्रदर्शन से प्रभावित होकर दोनों ने उसका प्रयोग अक्तूबर १८०६ में बोलोन बन्दरगाह के समीप नेपोलियन के विरुद्ध हमले में किया। तत्पश्चात् इन रॉकेटों का प्रयोग अँग्रेजों द्वारा अगस्त-सितम्बर १८०७ में कोपेनहेगन के युद्ध में भी हुआ। अप्रैल १८१० में इसका प्रयोग रोशेफोर्ट के पास पड़ाव डाले फ्रांसीसी नौसेना के बेड़े पर किया गया।

मेरे भारतीय मेहमान ने पुस्तक को बड़े ध्यान से देखा, पहले भाग के उन अंशों पर भी निगाह डाली, जिनकी ओर मैंने संकेत किया था, बाकी पृष्ठों को हल्के से उलटते-पलटते हुए 'दिलचस्प' कहते हुए उन्होंने पुस्तक मुझे लौटा दी। क्या सब कुछ पढ़ने के बाद, उन्हें भारत और भारतीय सृजनशीलता पर गर्व हुआ होगा? मुझे नहीं मालूम। लेकिन, यह सच है कि भारत में रहनेवाले लोग अपने सृजनशील नायकों को भूल गए हैं? विलियम कॉग्रेव ने टीपू सुलतान के रॉकेटों में जो सुधार किये, उनका पूरा वर्णन इस पुस्तक में मौजूद था, लेकिन हम टीपू के वंशजों को इतना तक नहीं मालूम कि टीपू के इंजीनियर कौन थे और कैसे वे इतने बड़े पैमाने पर रॉकेटों का निर्माण करते थे! हमारे सामने सर्वाधिक निर्णायक कार्य है अपनी पराजयवादी मानसिकता से छुटकारा पाना। वह मानसिकता जो हमारे बुद्धिजीवियों और होने वाले शासक वर्ग के मानस और सोच में बहुत गहरे तक पैठ गई है, जिसने उसे पूरी तरह भाग्यवादी बना दिया है। इस पराजयवादी मानसिकता के कारण ही वे कभी यह विश्वास नही कर पाते कि भारत में किसी भी प्रकार का नया सृजन होना सम्भव है। ❑❑❑

हितोपदेश की कथाएँ (५)

(पिछले अंकों में आपने पढ़ा कि एक बहेलिए ने आकर जंगल में जाल फैला दिया। फिर कबूतरों का एक झुण्ड चावल के लोभ में नीचे उतरकर जाल में फँस गया। वे जाल के साथ ही ऊपर उड़ गए। कबूतरों का राजा चित्रग्रीव उन्हें अपने मित्र हिरण्यक नामक चूहे के पास ले गया, जिसने जाल को काटकर उन्हें मुक्त कर दिया। लघुपतनक नामक कौआ सब देख रहा था। उसने भी बहुत अनुनय-विनय करके चूहे से मित्रता जोड़ ली। वहाँ भोजन का अभाव देखकर दोनों दण्डक वन में स्थित कर्पूरगौर नामक तालाब में रहनेवाले मन्थर नामक कछुवे से मिलने चल पड़े। मन्थर ने हिरण्यक चूहे से वहाँ आने का कारण पूछा और आश्रय प्रदान किया। तीनों मित्र सुखपूर्वक रहने लगे।)

इस प्रकार वे (हिरण्यक चूहा, लघुपतनक कौआ तथा मन्थर कछुआ) तीनों स्वेच्छापूर्वक आहार-विहार करते हुए आनन्दपूर्वक एक साथ रहने लगे। इसी बीच चित्रांग नामक मृग किसी भय से भागता हुआ उधर ही आ निकला।

हिरन को दौड़कर आते देखकर और उसके पीछे भय का कोई कारण होगा – ऐसा सोचकर मन्थर कछुआ जल में कूद गया, चूहा बिल में घुस गया और कौआ उड़कर पेड़ पर जा बैठा। इसके बाद लघुपतनक कौए ने ऊपर से दूर दूर तक देखा कि कहीं कोई भयानक जीव तो नहीं आ रहा है। जब उसने सबको आश्वस्त कर दिया, तो सब फिर वहीं आकर बैठ गए। मन्थर ने कहा – "भाई मृग! तुम्हारा स्वागत है। तुम कुशल से तो हो? जी भर कर पानी पियो, भोजन करो और इस वन में रहकर इसे कृतार्थ करो।" चित्रांग बोला – "शिकारी से भयभीत होकर मैं आप लोगों की शरण में आया हूँ और आपके साथ मित्रता करना चाहता हूँ।" हिरण्यक ने कहा – "हम लोगों के साथ तो तुम्हारी मित्रता अपने आप ही हो चुकी है। क्योंकि मित्र चार प्रकार के होते हैं –

औरसं कृतसम्बन्धं तथा वंशाक्रमाऽऽगतम्।
रक्षकं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम्।।

– 'अपने पुत्र-पौत्रादि, विवाह से प्राप्त सगे-सम्बन्धी, वंश-परम्परा से चले आए पड़ोसी आदि और आकस्मिक संकटों से रक्षा करनेवाला – मित्र ये चार प्रकार के होते हैं।'

अतः इस स्थान को अपने घर जैसा ही समझकर अब यहीं रहो। यह सुनकर हिरन बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने यथेच्छा भोजन किया, जल पिया और पास ही एक वृक्ष की छाया में बैठ गया। इसके बाद मन्थर ने पूछा – "भाई मृग! इस निर्जन वन में तुम्हें किसने डराया? क्या यहाँ शिकारी भी घूमते हैं?" हिरन ने उत्तर दिया – "कलिङ्ग देश में रुक्माङ्गद नाम का एक राजा है। वह दिग्विजय करने निकला है और इधर आकर चन्द्रभागा नदी के तट पर छावनी डाले पड़ा है। सबेरे वह वहाँ से चलकर इस कर्पूर सरोवर के पास डेरा डालेगा – ऐसा मैंने शिकारियों के मुख से सुना है। कल यहाँ भी रहना खतरे से खाली नहीं है, अतः सोच-समझकर जो ठीक लगे, करो।" यह सुनकर मन्थर कछुए ने भयभीत होकर कहा – "मैं तो दूसरे तालाब में चला जाऊँगा।" कौए तथा हिरन ने कहा – "मित्र, ऐसा ही करो।" इस पर हिरण्यक चूहे ने हँसकर कहा – "दूसरे सरोवर में पहुँचकर मन्थर संकट से तो बच जाएगा, परन्तु वह भूमि पर चलनेवाला है, (मार्ग में कोई विपत्ति आने पर) उसकी रक्षा का क्या उपाय होगा? क्योंकि – 'जलचरों के लिए जल, किलेवासियों के लिए किला, सिंह आदि पशुओं के लिए उनकी गुफा और राजाओं के लिए उनका मंत्री ही परम बल होता है।' तथापि उपाय ढूँढ़ना चाहिए। कहा भी है –

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः।
शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना।।

– 'उपाय से जो काम हो सकता है, वह पराक्रम से नहीं हो सकता। क्योंकि उपाय के द्वारा ही एक सियार ने एक हाथी को दलदल के रास्ते ले जाकर उसे मार डाला था।'

कथा ६

'ब्रह्म' वन में कर्पूर-तिलक नाम का एक हाथी निवास करता था। उसे देखकर सब सियारों ने सोचा – "यदि किसी उपाय से यह मर जाय, तो इसकी मृत देह से हमारे चार महीने का भोजन चल जाएगा।" यह सुनकर उनमें से एक वृद्ध सियार ने प्रतिज्ञा की – "मैं अपने बुद्धिबल से इसे मार डालूँगा।" इसके बाद वह धूर्त सियार कर्पूर-तिलक हाथी के पास गया और साष्टांग प्रणाम करके बोला – "देव! मेरे ऊपर कृपादृष्टि कीजिए।" हाथी ने पूछा – "तुम कौन हो? और कहाँ से आए हो?" उसने बताया – "मैं सियार हूँ। यहाँ के सभी बनवासी पशुओं ने मिलकर मुझे आपके पास भेजा है। उनका कहना है कि राजा के बिना इस जंगल में निवास करना ठीक नहीं और आप में ही इस जंगल के राजा के रूप में अभिषेक किये जाने योग्य गुण दीख पड़ते हैं, क्योंकि –

यः कुलाभिजनाचारैः अतिशुद्धः प्रतापवान्।
धार्मिको नीतिकुशलः स स्वामी युज्यते भुवि।।

– 'शासक ऐसा होना चाहिए, जो कुलाचार तथा लोकाचार का पालन करके अतिशय पवित्र हो गया हो, प्रतापी हो, धर्मात्मा हो और नीति का ज्ञाता हो।'

'पहले राजा होना चाहिए, फिर विवाह करना चाहिए और उसके बाद धन की इच्छा करनी चाहिए। क्योंकि यदि राजा न हो, तो पत्नी तथा धन की रक्षा कैसे होगी?'

'मेघ के समान राजा ही जगत् के सब प्राणियों का आधार है। मेघ न बरसे तो भी आदमी किसी तरह जीवित रह लेता है, पर राजा के बिना जीवन सुरक्षित नहीं रह सकता।'

नियत-विषय-वर्ती प्रायशो दण्डयोगात्-
जगति परवशेऽस्मिन् दुर्लभः साधुवृत्तः ।

– 'इस पराधीन (काम-लोभ आदि के वशीभूत) जगत् में प्रायः सभी लोग दण्ड के भय से ही अपने अपने कर्तव्य-पालन में लगे रहते हैं। स्वेच्छापूर्वक उत्तम आचरण करनेवाले लोग बड़े दुर्लभ हैं। कुलीन नारी भी दण्ड के भय से ही दुर्बल, रोगी, विकलांग या निर्धन पति को भी स्वीकार करती है।'

"अतः आप तत्काल चलिए, ताकि कहीं शुभ मुहूर्त न निकल जाय।" यह कहकर वह उठा और चल पड़ा। इसके बाद कर्पूरतिलक हाथी भी राज्य के लोभ में उस गीदड़ के पीछे पीछे शीघ्रतापूर्वक चलता हुआ एक बड़े भारी दलदल में फँस गया। हाथी ने कहा, "मित्र शृंगाल! अब क्या होगा? मैं तो बड़े दलदल में फँसकर मर रहा हूँ। जरा पीछे मुड़कर तो देखो।" सियार ने हँसकर जवाब दिया – "महाराज, आप मेरी पूँछ का छोर पकड़कर निकल आइए। आपने जो मेरे जैसे धूर्त जीव की बातों पर विश्वास कर लिया, तो अब उसके फल -स्वरूप इस अपार दुःख को भी सहन कीजिए। कहा भी है –

यदाऽसत्संगरहितो भविष्यसि भविष्यसि ।
तदाऽसज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि ।।

– 'जब तक तुम दुष्टों के संग से दूर रहते हो, तब तक जीवन ठीक-ठाक चलता है और जब तुम दुष्टों की बातों में आ जाते हो, तो महा-दुर्गति को प्राप्त होओगे।'

"इसके बाद उस दलदल में फँसे हुए हाथी को सियारों ने खा लिया। इसीलिए कहते हैं – 'उपाय से जो काम हो सकता है, वह पराक्रम से नहीं हो सकता।' आदि आदि।"

मन्थर कछुआ भय से बड़ा आकुल था। उसने हिरण्यक चूहे की ये हितकर बातें न सुनी और जलाशय त्यागकर चल पड़ा। उसके साथी चूहा, हिरन तथा कौआ भी किसी अनिष्ट की आशंका से स्नेहवश मन्थर के पीछे पीछे चले। भूमि-मार्ग से जाते हुए वन में विचरते एक शिकारी ने मन्थर को पकड़ लिया। उसने उसे पकड़कर अपने धनुष से बाँधा और कन्धे से लटकाए इधर-उधर शिकार की खोज में घूमने लगा। फिर दोपहर के समय भूख-प्यास से व्याकुल होकर वह अपने घर को चला। मृग, कौआ तथा चूहा भी बड़े दुखपूर्वक उसके पीछे पीछे चले। तब हिरण्यक विलाप करते हुए कहने लगा –

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं
गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे
छिद्रेष्वनर्था बहुली-भवन्ति ।।

– 'एक दुखरूपी समुद्र को पारकर ही नहीं कर पाया था कि दूसरा दुख आ गया। क्योंकि दुर्दिन आने पर विपत्तियाँ एक के पीछे एक आती ही रहती हैं।'

'स्वाभाविक मित्र बड़े भाग्य से ही प्राप्त होता है और वह विपत्ति काल में भी अपनी सहज मित्रता को नहीं छोड़ता।

'माता, पत्नी, सगे भाई और पुत्र पर भी वैसा विश्वास नहीं होता, जैसा कि स्वाभाविक मित्र पर होता है।'

इस तरह बारम्बार विचार करते हुए हिरण्यक बोला, "अहो! मेरा कैसा दुर्भाग्य है!! क्योंकि – 'एक जन्म में किए जानेवाले कर्म का फल दूसरे जन्म में प्राप्त होता है, परन्तु मुझे तो दुर्भाग्यवश अपनी दशाओं में सभी उतार-चढ़ाव इसी जीवन में देखने पड़े।' या फिर यह सब ऐसे ही होता है –

कायः संनिहितापायः संपदः पदमापदाम् ।
समागमाः साऽपगमाः सर्वमुत्पादि भंगुरम् ।।

– 'शरीर में ही विनाश निहित है, सम्पत्ति विपत्तियों का केन्द्र है, संयोग वियोगमय है और इस जगत् में उत्पन्न सभी वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं।'

फिर विचार करके वह कहने लगा –

शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रम्भभाजनम् ।
केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रम् इत्यक्षरद्वयम् ।।

– 'न जाने किस महापुरुष ने 'मित्र' इस दो अक्षर के नाम की सृष्टि की है, जो शोक-शत्रु तथा भय से बचाता है और प्रेम तथा विश्वास का पात्र है।'

'मित्र मानो नेत्रों को सुख देनेवाली एक दवा और चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न करनेवाली कोई चीज है। मित्र का सुख-दुख में साथ रहना एक दुर्लभ बात है। अपनी समृद्धि के समय धन की आशा में व्याकुल रहनेवाले मित्र तो सर्वत्र मिलते हैं, परन्तु एकमात्र विपत्ति ही मित्र को पहचानने की कसौटी है।'

इस प्रकार काफी देर तक विलाप करने के बाद हिरण्यक चूहे ने चित्रांग हिरन तथा लघुपतनक कौए से कहा – "इस शिकारी के वन से निकलने के पूर्व ही मन्थर को छुड़ाने का उपाय करना चाहिए।" दोनों ने कहा – "जो भी करना हो, झटपट करो।" हिरण्यक बोला – "चित्रांग मृग जलाशय के पास जाकर मुर्दे की भाँति पड़ जाय। लघुपतनक कौआ उसके किसी अंग पर बैठकर उसे अपनी चोंच से खोदे। यह देखकर वह व्याध अवश्य ही मृगमांस के लोभ में कछुए को छोड़कर उधर जाएगा। इसी बीच मैं मन्थर के बन्धन काट दूँगा। शिकारी के पास पहुँचने पर आप दोनों भी भाग जायँ।"

चित्रांग और लघुपतनक दोनों तत्काल चल पड़े और पूर्व-नियोजित योजना के अनुसार काम में लग गए। उधर वह थका हुआ शिकारी पानी पीकर एक पेड़ की छाँव में बैठा था। उसने दूर से ही उस पड़े हुए हिरन को देखा। वह बड़ा प्रसन्न

हुआ और तत्काल छूरा लेकर मृग की ओर बढ़ा। तभी चूहे हिरण्यक ने आकर मन्थर के बन्धन काट दिये। कछुआ तुरन्त तालाब में घुस गया और मृग ने जब देखा कि व्याध पास आ चुका है, तो वह सहसा उठकर भाग खड़ा हुआ। व्याध ने पेड़ की छाया में लौटकर जब वहाँ बँधे पड़े अपने कछुए को भी न देखा, तो सोचने लगा – 'मुझ जैसे मूर्ख के लिए यही उचित था। क्योंकि –

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि।।

– 'जो व्यक्ति निश्चित (वस्तु) को छोड़कर अनिश्चित (वस्तु) की ओर दौड़ता है, तो वह अनिश्चित पदार्थ तो अप्राप्त ही था, उसका निश्चित पदार्थ भी खो जाता है।'

तत्पश्चात् शिकारी अपने दुर्भाग्य पर पश्चात्ताप करता हुआ निराश मन से अपने घर की ओर लौट गया और कछुआ, चूहा, कौआ, हिरन – सभी मित्र विपत्ति से मुक्त होकर अपने स्थान को लौट गए और वहीं चैनपूर्वक रहने लगे।

राजकुमारों ने आनन्द के साथ कहा – "हमने 'मित्र-लाभ' प्रकरण सुना, जिससे हमें बड़ा आनन्द मिला। हमारी इच्छा पूर्ण हुई।" विष्णु शर्मा ने कहा – "यदि इससे आप लोगों की अभिलाषा पूर्ण हो गई हो, तो इतना और भी हो –

मित्रं प्राप्नुत सज्जना जनपदैर्लक्ष्मी समालभ्यतां
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत् स्वधर्मे स्थिताः।
आस्तां मानस-तुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोढेव वः
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवांश्चन्द्रार्धचूडामणिः।।

– 'अच्छे लोगों को मित्र मिलें, देश तथा देशवासियों को लक्ष्मी प्राप्त हों, शासकवर्ग सदा अपने कर्तव्य में स्थित रहकर पृथ्वी का पालन करें, आप जैसे पुण्यात्माओं की मानसिक तुष्टि हेतु नीति नववधू के सदृश आनन्ददायिनी हो और अर्धचन्द्र को मस्तक पर धारण करनेवाले भगवान शिव सभी मनुष्यों का कल्याण करें।' ❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी विवेकानन्द के सपनों का भारत

जी. एन. रायचौधरी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार कहा था – "यदि आप भारत को जानना चाहते हैं, तो विवेकानन्द का अध्ययन करें। उनमें सब कुछ सकारात्मक है, नकारात्मक कुछ भी नहीं।" उन्होंने यह जो बात कही थी, वह बिल्कुल सच्ची है।

स्वामी विवेकानन्द के हृदय में अपनी मातृभूमि के प्रति असीमित और अतुलनीय प्रेम था। उनके इस देशप्रेम तथा देशसेवा के निमित्त किये गए त्यागपूर्ण कार्यों ने भारत के स्वाधीनता आन्दोलन को गहराई से प्रभावित किया था। एक परिव्राजक संन्यासी के रूप में अपने देश के नगरों, गाँवों तथा तीर्थों का भ्रमण करते हुए स्वामीजी ने भारत के जनजीवन का प्रत्यक्ष अवलोकन किया था। अपने देश के गरीबों, दलितों और पीड़ितों की दयनीय दशा देखकर वे अनेकों बार फूट-फूटकर रोये थे। कन्याकुमारी के पास समुद्र में स्थित एक विशाल शिला पर ध्यानस्थ होकर उन्होंने भारत का गौरवपूर्ण अतीत और हताशापूर्ण वर्तमान को देखा था और इसके सुनहरे तथा उज्ज्वल भविष्य की कल्पना की थी।

स्वामीजी ने भारत के भविष्य के बारे में केवल सपने ही नहीं देखे थे, बल्कि उन्हें साकार करने के लिए आजीवन अथक प्रयास तथा संघर्ष भी किया था। वैसे तो उन्हें सम्पूर्ण मानव-जाति से प्रेम था, पर भारतवासियों के प्रति उनका प्रेम सर्वाधिक था। वे कहते – "इस पृथ्वी पर यदि कोई ऐसा देश है, जो पुण्यभूमि कहला सकता है; यदि ऐसा कोई देश है, जहाँ क्षमा, दया, पवित्रता, सौजन्य आदि सद्गुणों का सर्वाधिक विकास हुआ है; यदि कोई ऐसा देश है जहाँ आध्यात्मिकता और आत्मान्वेषण का सर्वाधिक विकास हुआ है, तो मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि वह मेरी मातृभूमि भारत है।"

जनवरी, १८९७ में पाश्चात्य देशों से स्वदेश लौटने के बाद उन्होंने 'कोलम्बो से अल्मोड़ा तक' की सुदीर्घ यात्रा करते हुए अपने ओजस्वी व्याख्यानों द्वारा सम्पूर्ण देश में जागृति की उत्तुंग लहरें उत्पन्न कर दी थीं। इससे देशवासियों में आत्म-विश्वास तथा आत्म-सम्मान जगा था, देशप्रेम जगा था और राष्ट्रीय भावना एवं चेतना का विकास हुआ था। उन्होंने अपने देशवासियों से कहा था, "अगले पचास वर्षों के लिए अन्य सभी देवी-देवताओं को भूल जाओ। पूजा करो उस विराट् ईश्वर की अर्थात् भारत के उस जन-समुदाय की, जो गरीबी, अशिक्षा, अन्याय और शोषण के बीच पिसती हुई जानवर से भी बदतर जिन्दगी बिताने को विवश है।" उनके "**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत** – उठो, जागो और लक्ष्य की प्राप्ति होने के पूर्व रुको मत" – के शंखनाद ने सारे राष्ट्र में नये प्राणों का संचार कर दिया था।

स्वामीजी ने जिस भारत का स्वप्न देखा था, उसके सामाजिक जीवन का मेरुदण्ड होगा धर्म, उसके राष्ट्रीय जीवन के संगीत का मूल स्वर होगा आध्यात्मिकता से ओतप्रोत धार्मिक जीवन। स्वामीजी का धर्म से अभिप्राय है – 'मनुष्य के अन्दर पहले से ही विद्यमान दिव्यता की अभिव्यक्ति' ... एक ऐसा धर्म, जो हमें पशुत्व से मनुष्यत्व और मनुष्यत्व से देवत्व की ओर ले जा सके, ऐसा धर्म जो मानव-मानव में भेद न करे, दूसरों के प्रति घृणा और द्वेष न सिखाये वरन् ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम और जीवमात्र के प्रति नि:स्वार्थ प्रेम सिखाये। उनका दृढ़ विश्वास था कि सच्चा धर्म और यथार्थ आध्यात्मिकता ही हमारे देश को जीवित रख सकती है।

स्वामीजी के सपनों का भारत विश्व को सर्वधर्म-समभाव तथा सर्वधर्म-समन्वय का सन्देश देगा। उन्होंने ११ सितम्बर, १८९३ ई. के दिन शिकागो की धर्म-महासभा में अपने पहले व्याख्यान में – 'सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता और सच्चे धर्मों के रूप में उनकी स्वीकृति' – कहकर जिस शाश्वत सत्य को उद्घाटित किया था, वही हमारे देश का मूलमंत्र होगा। वह विश्व को सिखाएगा – "**एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति** – ईश्वर एक है, सत्य एक है, विभिन्न रूपों तथा नामों से उसकी उपासना की जाती है।" इसके फलस्वरूप मानव समाज में साम्प्रदायिकता, संकीर्णता और धार्मिक कट्टरता समाप्त हो सकेगी। आजकल विश्व में जो धार्मिक उन्माद फैला है और उससे उत्पन्न आतंक दिखाई पड़ रहा है, उसे दूर करने के लिए भारत के इस महान् सन्देश की आवश्यकता है।

स्वामीजी के मतानुसार भविष्य के भारत को विज्ञान और धर्म का समन्वय करना होगा। वह भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए पाश्चात्य देशों से विज्ञान तथा तकनीकी ज्ञान ग्रहण करेगा और बदले मे उन्हें अपनी आध्यात्मिकता देगा। विज्ञान से बाह्य प्रकृति पर और धर्म से अन्त:प्रकृति पर विजय प्राप्त करनी होगी। इस तरह से भारतवर्ष और पाश्चात्य देश एक दूसरे के पूरक बनेंगे। दूसरे देशों में जो कुछ भी अच्छा है, भारत उसे भी सीखने को तैयार रहेगा। वह दूसरे देशों से मेल-जोल रखेगा, अलग-थलग नहीं रहेगा।

स्वामीजी का विश्वास था कि जनसाधारण और नारी-जाति की उपेक्षा तथा अवहेलना ही हमारी अवनति का मूल कारण और बहुत बड़ा राष्ट्रीय पाप रहा है। भविष्य के भारत में आम जनता और स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार किया जाएगा। उन्हें उन्नति के लिए समान अवसर दिये जाएँगे। नीची जातियों को शिक्षा और संस्कारों के द्वारा ऊपर उठाया जाएगा। जिस राष्ट्र में नारियों का सम्मान नहीं होता, वह उन्नति नहीं कर सकता, इसलिए उन्हें उचित सम्मान दिया जाएगा। पुरोहित-तंत्र के अन्याय और अत्याचार को समाप्त कर दिया जाएगा। अस्पृश्यता जैसी घिनौनी कुरीति को हमेशा के लिए दफना दिया जाएगा। जाति-प्रथा अधिक लचीली बनेगी, ताकि लोग अपने कर्मों के अनुसार ऊपर उठ सकें। गरीबी, अन्याय और शोषण को समाप्त कर दिया जाएगा। स्वामीजी ने दृढ़ विश्वास के साथ कहा था – "कालचक्र फिर से घूमकर आ रहा है, एक बार फिर भारत से वही शक्तिप्रवाह नि:सृत हो रहा है, जो शीघ्र ही सारे जग को आप्लावित कर देगा। विश्वास रखो, विश्वास रखो – प्रभु की आज्ञा है कि भारत की उन्नति अवश्य होगी और साधारण और गरीब लोग सुखी होंगे।"

स्वामीजी के सपनों का भारत श्रीरामकृष्ण देव द्वारा बताए गए 'शिवज्ञान से जीवसेवा' के आदर्श को अपनाएगा। स्वामीजी ने अपने गुरुदेव से प्रेरणा पाकर ही 'शिवज्ञान से जीवसेवा' को अपने जीवन का परम लक्ष्य बनाया था और उसे सेवायोग का नाम दिया था। स्वामीजी का विश्वास था कि इस सेवायोग के माध्यम से मनुष्य न केवल जगत् का कल्याण करेगा, वरन् अपने मोक्ष का मार्ग भी प्रशस्त करेगा। 'त्याग और सेवा' ही हमारे राष्ट्र के मुख्य आदर्श होंगे। सेवायोग के द्वारा वेदान्त को अरण्यों और पर्वत-गुफाओं से निकालकर सामान्य जनजीवन में लाया जा सकेगा। प्रत्येक जीव में यदि ब्रह्म का निवास है, तो उसकी सेवा ही ईश्वर-पूजा है और हमारे मोक्ष का उपाय भी है।

स्वामीजी का यह विश्वास था कि दोषपूर्ण शिक्षा-प्रणाली के कारण ही हमारे देश की उन्नति नही हो पा रही है। उनके मतानुसार विभिन्न विषयों की जानकारी को दिमाग में ठूँसना ही शिक्षा नहीं है। सच्ची शिक्षा का उद्देश्य है – चरित्र-निर्माण तथा सच्चे मनुष्य का निर्माण। भविष्य के भारत में शिक्षा का यही उद्देश्य होगा। उसमें ऐसे शिक्षालयों की स्थापना होगी, जहाँ से शिक्षा पाकर सबल, तेजस्वी, श्रद्धासम्पन्न तथा दृढ़ निश्चयवाले नवयुवक देश की सेवा तथा जगत् के कल्याण के लिए निकल पड़ेंगे और ऐसे लोगों की सहायता करेंगे जो निर्बल हैं, निर्धन हैं, बीमार हैं या विपत्तिग्रस्त है।

स्वामीजी ने कहा था – "भारत का पुनरुत्थान होगा, पर जड़ की शक्ति से नहीं, वरन् आत्मा की शक्ति के द्वारा। वह उत्थान विनाश की ध्वजा लेकर नहीं, वरन् शान्ति और प्रेम की ध्वजा लेकर, धन की शक्ति से नही, बल्कि भिक्षा-पात्र की शक्ति से सम्पादित होगा।" ❑❑❑

भगिनी निवेदिता के विचार

संकलक – श्रीमती अबला बोस

(देवी निवेदिता का जन्म २८ अक्तूबर, १८६७ तथा निर्वाण १३ अक्तूबर १९११ को हुआ था। देहान्त के दो वर्ष बाद खण्डवा से श्री कालूलाल गंगराड़े के सम्पादन में प्रकाशित 'प्रभा' मासिक के प्रथम वर्ष के दिसम्बर १९१३ तथा जनवरी १९१४ के अंकों मे उनके बारे में दो लेख श्रीयुत् गोपाल प्रसाद शर्मा द्वारा अनुदित होकर प्रकाशित हुए थे। भाषा में थोड़ा सुधार करके उन्हीं का पुनर्मुद्रण किया जा रहा है। – सं.)

देवी निवेदिता ने कहा था, "दक्षिण के मन्दिर मुझे इंग्लैंड के देवालयों की याद दिलाते हैं, द्वार के भीतर जाते ही एक बड़ा चौक दिखता है, उस चौक के मध्य भाग में देवमूर्ति है, उसके आसपास अशोक के पेड़ हैं, मन्दिर के द्वार तोरण से सुसज्जित हैं, देवालयों के आसपास फूस के झोपड़े या मिट्टी की छोटी छोटी कुटियाँ हैं। इनमें साधु व यात्री रहते है, कहीं पाठशालाएँ भी हैं, जहाँ पवित्र विद्यार्थियों के वेदपाठ की ध्वनि शान्ति के साम्राज्य में आनन्द का प्रवाह बहाती है। कोई कोई विद्यार्थी ताड़पत्र पर लिखते हैं। पुरा काल में इंग्लैंड के विद्यार्थी भी वृक्षों की छाया में आचार्य के पास बैठकर लिखा करते थे। फिर यात्रियों के उपयोग हेतु मन्दिरों के पास दुकानें भी हैं। इस देश के संन्यासी तो देश के साधु ही हैं। तंजौर का मन्दिर संसार के कलह, जंजाल और दुर्गुणों से मुक्त है। यह देवालय धर्म, शान्ति और आत्मसंयम का स्थान है।"

१९०४ ई. के अक्तूबर में देवी निवेदिता बोधगया गईं। वहाँ देवालय के तरुकुंज में वे अपनी मित्र-मण्डली के साथ बैठी थीं। चित्त शान्त था। आकाश में तारे चमक रहे थे। आसपास के घरों में दीपक टिमटिमा रहे थे। वे बैठी बैठी अतीतकाल का स्मरण कर रही थीं। काफी देर मौन रहने के बाद वे बुद्ध-युग के बारे में अद्भुत रीति से कहने लगीं –

"बौद्ध धर्म कोई नया धर्म नहीं था। बुद्ध एक महात्मा, धर्मनेता और आचार्य थे। अपने साथ के साधुओं की तुलना में उनका जीवन बड़ा दैवी, बड़ा उन्नत और बड़ा पवित्र था। बुद्ध-मत के अनुयाइयों का कोई नया धर्म नहीं था। वे लोग हिन्दू-समाज में ही रहते थे। बुद्ध की इच्छा नया धर्म प्रचलित करने की न थी। अन्य लोगों की अपेक्षा उनका जीवन बड़ा पवित्र था। उनकी विश्वव्यापक जगन्नियन्ता में दृढ़ श्रद्धा थी। जैसे रामकृष्ण मिशन के शिष्य हिन्दू-समाज से भिन्न नहीं हैं, वैसे ही वे भी नहीं थे। कुछ लोगों का कहना है कि बौद्ध-धर्म के प्रचार के समय हिन्दू-धर्म लुप्त हो गया था, परन्तु यह बात सिद्ध नहीं होती; क्योंकि यह स्वाभाविक ही है कि जब मैं अपने गुरुदेव स्वामी विवेकानन्द के बारे में लिखने बैठूँगी, तो वैष्णवों के विषय में कुछ भी न लिखूँगी। वैसे ही यदि बौद्ध ग्रन्थों में हिन्दुओं के विषय में कुछ न लिखा हो, तो इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि उस समय हिन्दू धर्म का लोप हो गया था। फिर जो लोग कहते हैं कि हिन्दुओं ने बौद्ध-धर्म का नाश किया, यह बात भी मुझे असत्य ही मालूम होती है। इन दोनों में उस समय कोई भी विरोध न था। इस बात पर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है कि बौद्ध और हिन्दू – ये दोनों धर्म उस समय उत्तरी हिन्दुस्तान में फैल रहे थे। बौद्ध-धर्म का लोप हिन्दू-धर्म के द्वारा नहीं, बल्कि प्राकृतिक रूप से हुआ था।"

कुछ युवक 'एशिया की ज्योति' (The Light of Asia) नामक काव्य-ग्रन्थ पढ़ रहे थे। उसे सुनकर निवेदिता का ध्यान बुद्ध के जीवन की ओर गया और वे बोलीं, "जहाँ सुजाता का घर था, वहाँ जाने पर हम उस महासती का कोई शिलालेख नहीं पाते। वहाँ हरी हरी घासें उग रही हैं, तथापि वह एक पवित्र स्थान है। सुजाता एक आदर्श पवित्र गृहिणी थी। अभाव के समय उसने प्रभु की सेवा की थी।"

गया से लौटने के बाद वे निराश तथा दुखी थीं। आँगन में सारी रात रोते हुए वे कह रही थीं, "हमारे प्रयत्न असफल हुए, यह देश अब भी अपनी कुम्भकर्ण की-सी निद्रा से नहीं जागता। यह अभी मृतप्राय है, इसमें अभी चैतन्य नहीं आया है; मैं जो कुछ कहती हूँ, उसे यहाँ के लोग सुन तो लेते हैं; पर बाद में पुन: वही करने लगते हैं, जिसे न करने का प्रण करते हैं। मेरे कहने का कुछ भी असर नहीं होता। हाय! मैं कुछ भी न कर सकी। अपने जिस सत्य ज्योतिर्मय जीवन से भारतवर्ष जगत् का प्रशंसापात्र और एशिया का हृदय बना था, वह अब भी इसमें पुन: नहीं आया है। हे भारत! जिन महात्माओं को तूने उत्पन्न किया, थोड़ा उनकी बातों पर विचार भी तो कर, जो अमोल धर्म-सम्पदा तुझे मिली है, उसका थोड़ा सदुपयोग भी तो कर। अहा! जगत् के विकास में भारत ने क्या क्या किया था? हाय! वह जीवन और गौरव कब लौटेगा!!"

एक बार भगिनी निवेदिता वाराणसी में पाण्डे-हवेली में ठहरी थीं। दोपहर का समय था। एक घसियारिन अपना घास बेचने के बाद वहाँ आकर छाया में बैठी थी। एक औरत कौड़ियाँ गिन रही थी। बुद्धकाल में भी प्रचलित उन मुद्राओं को देखकर निवेदिता कहने लगीं, "काशी में रहने से पुराने और नए भारतवर्ष का भान होता है। जैसे आक्सफोर्ड और पेरिस विगत काल में विद्या के केन्द्र थे, वैसे ही भारत में काशी है। यहाँ रहने से हिन्दुस्तान के विविध भागों के साधु और विद्वानों के साथ समागम हो सकता है।"

एक बार देवी निवेदिता (पटना के) खुदाबख़्श पुस्तकालय

में गईं। वहाँ उन्हें इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर लिखे हुए भारत के प्रसिद्ध बादशाह शाहजहाँ के अक्षर दिखाये गए। उन्होंने उसे छूने की अनुमति माँगी। अनुमति मिलने पर वे उन अक्षरों पर हाथ रखकर आँखें मूँदे ऐसी निश्चेष्ट हो गयीं, मानो वे भूतकाल की आत्मा से जुड़ गई हों!

वे नालन्दा की एक ईंट और सारनाथ का एक पत्थर उठा लायी थीं। इन दोनों को वे सदा अपने अध्ययन-कक्ष में रखा करती थीं। कभी कभी तो वे इस ईंट तथा पत्थर की पूजा भी करती थीं। भारत की पुरातन चीजों में उन्हें एक तरह के विलक्षण गौरव का बोध होता था। वे कभी बाहरी दिखावे का प्रयत्न नहीं करती थीं। अन्य मनुष्यों तथा प्राणियों के हृदय को आकृष्ट कर लेना तो वे स्वभाव से ही जानती थीं।

एक बार आर्यसमाज के एक पंजाबी उपदेशक देवी निवेदिता से कुछ प्रश्न करने आए। जैसे वे पादरियों से प्रश्न किया करते थे, वैसे ही इनसे भी करने लगे। प्रश्नों के दौरान वे बार बार उन्हें 'मेम साहब' कहकर सम्बोधित करते थे। उन प्रश्नों का समुचित उत्तर देने के बाद निवेदिता ने कहा, "भाई साहब, यदि आप मुझे 'मेम साहब' की जगह 'दीदी' कहें, तो बड़ी कृपा होगी।" यह सुनकर उपदेशक शान्त हो गए और उन्हें इन देवी के महत्त्व का भान हो गया।

एक बार निवेदिता ने कहा था, "शिक्षा! हाय! भारत के लिए यह एक बड़ा भारी प्रश्न है। सच्ची शिक्षा कैसे दी जाय? देशहित में तत्पर करानेवाली शिक्षा कैसे मिल सकेगी? कैसे तुम भारत के सच्चे सपूत तथा नागरिक बन सकोगे? ऐसे अनेक विचारणीय प्रश्न हैं। आजकल सभी भारतवासी पश्चिम का अन्धानुकरण कर रहे हैं। तुम्हारी शिक्षा तुम्हारे हृदय की होनी चाहिए और साथ ही तुम्हारे मन व आत्मा की शिक्षा भी तुम्हारे योग्य हो, तो भला होगा। फिर इस शिक्षा का अतीत तथा वर्तमान काल से भी सम्बन्ध होना चाहिए। आजकल के विद्यालय क्या सच्ची शिक्षा दे सकते हैं? बिल्कुल नहीं!!"

वे कहती थीं, "दूसरे देशवालों के साथ व्यापार, कला और हूनर में स्पर्धा करो। तुम पीछे क्यों रह जाते हो? जीवन के जिस पथ पर भी तुम हो, उस पर रौशनी डालो। तुम अपने कार्य में श्रेष्ठता लाने की चेष्टा करो। निराश न होओ, सर्वोत्तम बनने का प्रयत्न करो। विदेशियों की विद्या, कला और व्यापार-शक्ति के आगे तुम सिर क्यों झुकाते हो?" ये वचन यह दर्शाते हैं कि भगिनी भारत के हितार्थ कितनी आतुर थीं।

एक बार देवी निवेदिता ने कहा था, "अपनी माता के प्रति प्रेम बनाए रखना हो, तो उनकी सेवा करो, उनके पुत्रों का भला करने में लग जाओ, अपने शहर के हर भाग में युवा-मण्डल स्थापित करो। ज्ञान के प्रचार करने में, अनाथों की मदद करने में, अशिक्षितों को ज्ञान देने में और गरीबों को सुखी करने में स्वयंसेवकों को प्रेरित करो। हर मण्डल में हिन्दू तथा मुसलमान युवकों को एक साथ काम करना उचित होगा, क्योंकि भारत की ये दोनों जातियाँ गाँव के एक ही मुहल्ले में रहती हैं। इस प्रकार जो काम मेल, धैर्य और एकता के द्वारा हो सकेगा, वह फूट से नहीं होगा।"

एक बार एक व्याख्यान में उन्होंने कहा था, "अपने देश को सुधारने और अपनी प्रजा की उन्नति करने के अनेक उपाय हैं। जब मैं तुमसे अपने आचार में परिवर्तन लाने को कहती हूँ, तो तुम जनता और उसकी निन्दा से डरते हो; तुमको जो सत्य तथा उचित प्रतीत होता है, उसे भी तुम नहीं करते और कहते हो कि ऐसा करने से हमारी जातिवाले हमारे साथ भोजन नहीं करेंगे और लड़की-लड़के नहीं ब्याहेंगे। इन भीरु शब्दों के उत्तर में मैं कहती हूँ कि जिन लोगों से तुम डरते हो, वे मनुष्य की उन्नति के दुश्मन हैं, जान लो कि वे अज्ञानी, अधम और देशद्रोही हैं। उनके साथ खाने-पीने में तुम अपना मान न समझो, बल्कि लज्जित होओ। यह निश्चित जानो कि उनके रुधिर के साथ मिलने से तुम्हारा भी खून दूषित हो जाएगा।"

भारतीय नारियों के जीवन को उच्च बनाने का प्रयत्न करती हुई वे कहती थीं, "तुम्हारी महिलाएँ सुन्दर गृहिणियाँ, उत्तम रसोई बनानेवाली और प्रेमपूर्ण सेविकाएँ हैं। इसी में तुम क्या कम सन्तोष मानते हो? वस्तुतः ये गुण उत्तम, प्रशंसनीय तथा अनुकरणीय है। तुम सुखी हो, तुम्हारा संसार क्लेश तथा कलह से रहित है, पर इतने ही गुण पर्याप्त नहीं हैं। तुम अभी पृथ्वी पर स्वर्ग को नहीं पा सके हो। तुम्हारी स्त्रियाँ तुम्हारे हर कार्य में सहधर्मिणी हों, तभी उनका स्त्रीपद ठीक है और तभी उन्हें जीवन का साफल्य तथा स्वर्गसुख मिलेगा। उनको अपनी सहायिका और मित्र बनाओ। जितनी सत्ता और मान का तुम अपने घर में भोग करते हो, वह बहुत है। तुम्हारी सत्ता और अन्याय से स्त्रियाँ डूब रही हैं, वे उन्नत और प्रबुद्ध नहीं हो सकतीं। तुम अपनी स्त्रियों को उचित शिक्षा दोगे, उचित आजादी दोगे; उन्हें अधिक रसिक, स्नेहमयी तथा पवित्र बनाने की चेष्टा करोगे, उनके जीवन में अमृत डालोगे, तो इससे वे ही नहीं; बल्कि उनसे अधिक तुम सुखी होओगे। तभी तुम्हारे जीवन में अमृत का अमूल्य झरना बहेगा और अपने पुत्र-पुत्रियों तथा सगे-सहोदरों की फुलवारी में प्रेम, मृदुता, दया और दिव्यता के मीठे जल का सिंचन करके, सर्वदा हरा-भरा रखकर, उसे तुम सुरम्य, पुष्पवती और मनोहर बना सकोगे।"

इतने से ही पाठक अनुमान कर सकेंगे कि भारत पर प्राण समर्पण करने में उनका मन कितना उदार और निश्छल था। इन देवी के सारे उद्‌गारों को प्रकाशित करने हेतु पाठकों को उद्योग करना चाहिए। और ऐसी परोपकारिणी देवी के परिश्रम को भूल नहीं जाना चाहिए। ❑❑❑

गीता की शक्ति और मोहकता (७)

स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज (परमाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ तथा मिशन)

(अद्वैत आश्रम, मायावती से प्रकाशित होनेवाली प्रस्तुत लेखमाला के दो भाग हैं – 'गीता-अध्ययन की भूमिका' जीवन के विभिन्न प्रकार के कार्यों में व्यस्त जगत् के विचारशील लोगों का गीता से परिचय कराने हेतु है और दूसरा भाग 'गीता की शक्ति तथा मोहकता' इस महान् ग्रन्थ पर दिये गए एक उद्‌बोधक व्याख्यान का अनुलिखन है। इन अंग्रेजी व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद हम क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

भारत ने कैसे अनेक अध:पतन देखे, परन्तु विनाश से बच गया

हमारी भारतीय संस्कृति इन समस्त अवस्थाओं से होकर गुजरी है। वैदिक काल की महान् संस्कृति को ही लीजिए। इसका निर्माण करने के लिए लोगों ने कितने संघर्ष किये और कितने कष्ट सहे ! उनके मन सक्रिय तथा उत्साह से परिपूर्ण थे और उसमें महान् ऊर्जा भरी थी। यह महाकाव्य के काल तक चला। इसके बाद तीन हजार वर्षों से भी पूर्व, कुरुक्षेत्र में हुए महाभारत युद्ध के रूप में एक प्रचण्ड धक्का लगा। राष्ट्र के हजारों सर्वश्रेष्ठ लोग युद्ध में मार डाले गए। इसी को हमारे इतिहास का एक सन्धिकाल माना जाता है। कुछ समय बाद नयी शक्ति आयी, परन्तु उसका पुन: क्षय हो गया। यह तरंगों के समान उठता-गिरता चला गया, परन्तु जैसा मैंने पहले बताया – इसका वैशिष्ट्य यह है कि हममें अध:पतन आता है, पर हम कभी मरते नहीं। कोई नयी शक्ति आती है और हम एक बार फिर तरो-ताजा हो जाते हैं। पिछली शताब्दी में हम कितने नीचे चले गए थे ! जब हम उस काल का साहित्य पढ़ते हैं, तो हमें दीख पड़ता है कि भारत का मानव-मन कितने निम्न स्तर तक जा चुका था। सारी मूल शक्ति, ऊर्जा तथा क्रियात्मकता लुप्त हो चुकी थी और हम लोग एक अर्धमृत राष्ट्र थे। उसी अवस्था के भीतर से एक प्रचण्ड जागरण तथा नये विकास का उदय हुआ। यह कैसे सम्भव हुआ? यहीं पर वह महान् विचार आता है। उस समय न केवल एक महान् आध्यात्मिक आचार्य आ पहुँचते हैं, अपितु कभी कभी सांस्कृतिक सम्मिलन भी होता है। पाश्चात्य संस्कृति ने हमारी कुछ मूर्खतापूर्ण धारणाओं को नष्ट कर दिया। इसने हमें नये मार्ग दिखलाए और हमें अधिक ऊर्जावान बनाया। पाश्चात्य लोगों का यह उद्देश्य नहीं था, परन्तु हुआ ऐसा ही; पाश्चात्य भावों के निषेचन के फलस्वरूप भारत में एक नयी जागृति, एक नयी ऊर्जा और एक नयी तरुणाई आ गई।

संस्कृतियों के समन्वय से सांस्कृतिक क्षय रोकना

सांस्कृतिक सम्मिलन तो हो सकता है, परन्तु इसे पूरी तौर से उपयोगी बनाने के लिए, इसे रचनात्मक आन्दोलन बनाने के लिए हमें महान् चिन्तकों और दूरदृष्टि से युक्त नेताओं की आवश्यकता होती है। पिछली शताब्दी में भारत ने ऐसे अनेक लोगों को पैदा किया, जो राजा राममोहन राय से आरम्भ होकर अन्त में स्वामी विवेकानन्द के सशक्त, रचनात्मक तथा एकात्मवादी आन्दोलन में चरम परिणति को प्राप्त हुआ। स्वामी विवेकानन्द से आरम्भ होनेवाले १९वीं सदी के इतिहास को पढ़ने पर हम देखते हैं कि इस जागृति ने न केवल राष्ट्रीय, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी काफी परिपक्वता और एक प्रचण्ड कार्यक्षेत्र का विस्तार किया। अत: केवल (सांस्कृतिक) सम्मिलन ही यथेष्ट नहीं है। उस शक्ति का उपयोग होना चाहिए और उसे उचित दिशा प्रदान की जानी चाहिए। अपनी विरासत में जो कुछ भी दुर्बल बनानेवाला या अन्धविश्वास से युक्त था, उसे छोड़ने के बाद उसके सर्वोत्तम तत्त्वों को लेकर और पश्चिम से जो कुछ आया था, उसकी अच्छी चीजों

के साथ सम्मिलन कराना ही स्वामी विवेकानन्द की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। उन्होंने हमें बताया कि शीघ्र ही पाश्चात्य संस्कृति की समस्त शक्तियों को हमारी अपनी शक्तियों के साथ मिलाकर एक नये भारत का, एक ऐसे भारत का निर्माण होगा, जो पूर्व के भारत से भी काफी अधिक महान् होगा। आधुनिक युग में चुपचाप तथा धीरे धीरे ऐसा ही हो रहा है और समय आने पर यह विश्व को विस्मित कर देगा। पिछली शताब्दी में पश्चिम की सक्रिय संस्कृति के सम्पर्क में आने से हममें जो प्रचण्ड जागृति आयी, उसकी शक्ति को स्वामी विवेकानन्द ने इसी प्रकार दिशा प्रदान की। यद्यपि भारत उस समय विदेशी राजनीतिक शासन के अधीन था, पर इसके साथ ही हम पर पश्चिम के प्रचण्ड विचार-पद्धतियों का भी प्रभाव हुआ, जिसने हमें नये ढंगों से सोचने को मजबूर किया। तब तक हम लोग मानो एक संकीर्ण तथा साम्प्रदायिक

दृष्टिकोण से युक्त खाँचे में रहते थे। स्वामी विवेकानन्द ने इस अवस्था का विवरण अपनी कोलम्बो से अल्मोड़ा तक प्रदत्त 'भारतीय-व्याख्यान' में व्यक्त किया है। अपने देश तथा इसके वैशिष्ट्य को समझने और भारतीय तथा पाश्चात्य सांस्कृतिक आदर्शों को कैसे समन्वित किया जाय, यह जानने के लिए भारत के प्रत्येक नागरिक को यह पुस्तक पढ़नी चाहिए।

"सर्वप्रथम, पुराने तर्क-वितर्कों को – अर्थहीन विषयों पर छिड़े हुए उन पुराने झगड़ों को त्याग दो, जो अपनी प्रकृति से ही मूर्खतापूर्ण हैं। गत छह-सात सदियों से लगातार हो रहे पतन पर विचार करो – जबकि सैकड़ों समझदार आदमी सिर्फ इस विषय को लेकर वर्षों तर्क करते रह गए कि लोटा भर पानी दाहिने हाथ से पिया जाय या बाँयें हाथ से, हाथ चार बार धोया जाय या पाँच बार, और कुल्ला पाँच दफे करना ठीक है या छह दफे। ऐसे अनावश्यक प्रश्नों पर तर्क करने पर तुले हुए जिन्दगी-पर-जिन्दगी पार कर देनेवाले और इन विषयों पर अत्यन्त गवेषणापूर्ण दर्शन लिख डालनेवाले पण्डितों से और क्या आशा कर सकते हो?"

भारत जब अंग्रेजों के सम्पर्क में आया, तो इन सबको एक बहुत बड़ा आघात लगा। इसने लोगों को फिर से सोचने को मजबूर किया। उन्हीं पुराने पण्डितों का पुत्र सी. वी. रमन अध्ययन करते हुए और आधुनिक भौतिकी को विकास का एक नया मार्ग देकर बाद में एक नोबल पुरस्कार विजेता बन सकता है। इसी को renaissance (पुनर्जागरण) कहते हैं, इससे लोगों को एक नया जीवन मिलता है। ऐसा पिछली शताब्दी में हुआ और आज हम उस प्रचण्ड विकास की फसल काट रहे हैं। एक नयी तरुणाई, एक नयी ऊर्जा आयी है, परन्तु अब तक हम लोग संकट से उबर नहीं सके हैं। इस समय इतनी समस्याएँ हैं, सर्वत्र भ्रष्टाचार तथा हिंसा व्याप्त है; परन्तु इससे यह भी ज्ञात होता है कि लोगों में ऊर्जा है और यह एक सम्पदा है। परिस्थितियों को बदला जा सकता है और ये महान् शिक्षक ऊर्जा को बेहतर रूप में बदलने को आए हैं। वे हिंसा तथा अपराध से चिन्तित नहीं होते। सच्ची प्रगति **तमस्** से **रजस्** में ही होती है और **रजस्** में रहने पर मनुष्य स्वयं के लिए तथा समाज के लिए एक समस्या बन जाता है; तथापि यह **तमस्** या निर्जीवता से **रजस्** की अवस्था में प्रगति ही है। इसके बाद **सत्त्व** नामक अगला कदम उठाना होगा, जो संयमित तथा रचनात्मक ऊर्जा की, परिष्कृत ऊर्जा की एक उच्च अवस्था है। वह अवस्था कितनी अद्भुत होगी! भारत को ऐसी शिक्षाएँ केवल अपने आध्यात्मिक शिक्षकों से ही नही, बल्कि राजनीतिक नेताओं से भी प्राप्त हुई। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, सुभाष चन्द्र बोस, मोतीलाल नेहरू तथा अन्य नेताओं ने राष्ट्र के लिए धन तथा भौतिक सुविधाओं का बलिदान करके उत्तम जीवन बिताया। पिछली (१९वी) शताब्दी में तथा वर्तमान (२०वीं) शताब्दी के प्रारम्भ में श्रीरामकृष्ण तथा विवेकानन्द जैसे आध्यात्मिक महापुरुषों के अतिरिक्त ऐसे उच्च मानस के लोग भी थे। गाँधीजी एक सशक्त आध्यात्मिक शक्ति थे। फिर राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता चित्तरंजन दास थे, जिनका १९२५ ई. में देहान्त हुआ और कहते हैं कि दाह के लिए ले जाते समय गाँधीजी ने स्वयं ही उनके शव से कन्धा लगाया था। दास एक निर्धन व्यक्ति थे। उन्होंने कानून पढ़ा और अपनी वकालत से काफी धन अर्जित किया। उनके पिता ने स्वयं को दिवालिया घोषित कर दिया था और निर्धनता में मर गए। अपनी आय से चित्तरंजन दास ने जो पहला काम किया, वह यह था कि अपने पिता के समस्त ऋणों को चुकाकर उनका नाम दिवालियों की तालिका से निकलवा दिया। इस घटना में हम मानव-मन की उदात्तता का अवलोकन कर सकते हैं। चूँकि उनके पिता दिवंगत हो चुके थे, अत: वे सहज ही ऋणों की उपेक्षा कर सकते थे, पर उनके लिए धन की अपेक्षा सम्मान कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था। आज हम उस चरित्र को खो बैठे हैं। आज सम्मान का कोई महत्त्व नहीं, धन ही सब कुछ है और इतना फरक आ गया केवल अस्सी वर्षों की अवधि में! ऐसे महान् लोगों ने भारत को एक नया जीवन प्रदान करने के लिए हमारी राष्ट्रीय ऊर्जाओं का मार्गदर्शन किया; और इन सबके ऊपर स्वामी विवेकानन्द थे, जिनका प्रभाव इन सभी राजनीतिक नेताओं पर भी पड़ा था। रोमाँ रोलाँ द्वारा लिखित 'विवेकानन्द-जीवनी' पढ़कर हम इस प्रभाव के स्वरूप को समझ सकते हैं। १९२१ ई. में जब गाँधीजी कांग्रेस के अधिवेशन मे भाग लेने कोलकाता गए, उस समय वे बेलूड़ स्थित रामकृष्ण मठ भी गए थे। वहाँ नीचे लॉन में एकत्र एक अनौपचारिक टोली को सम्बोधित करते हुए गाँधीजी ने कहा कि वे बेलूड़ मठ में सत्याग्रह का प्रचार करने नहीं आए हैं, बल्कि जहाँ स्वामी विवेकानन्द ने निवास किया था, वहाँ से प्रेरणा ग्रहण करने आए हैं, ताकि वे देश से और भी अच्छी तरह प्रेम कर सकें। उन्होंने स्वामीजी को श्रद्धांजलि देते हुए कहा, "विवेकानन्द-साहित्य को पढ़कर मेरा भारत-प्रेम हजार गुना बढ़ गया है।" और उन्होंने लोगों से कहा कि वे घर लौटते समय अपने साथ थोड़ी-सी प्रेरणा लेते जायँ।

३९ वर्ष के अपने संक्षिप्त जीवन-काल में स्वामीजी ने प्राय: जीर्ण-शीर्ण हो चुकी हमारी इस अद्भुत प्राचीन संस्कृति में एक नवीन तरुणाई का संचार किया। अनेक साम्राज्यवादी ब्रिटिश लेखकों ने भविष्यवाणी की थी कि ऊर्जस्विनी पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क में आने से यह संस्कृति पतित होकर मर जाएगी। भारत में अंग्रेजी शिक्षा के अग्रदूत मैकाले ने लिखा कि इसका अल्प अवधि में ही मरना निश्चित है। परन्तु हुआ इसके ठीक उल्टा। भारत एक बार फिर ऊर्जस्वी हुआ और

एक नयी शक्ति ने उसे आगे की ओर धक्का दिया। यदि श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द नहीं आते, तो भी हम लोग ऊर्जावान तथा सक्रिय रहे होते। निःसन्देह आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति ने हमें ऊर्जावान बना दिया होता, परन्तु हम अपनी अन्तरात्मा को खो बैठते, अपने पुरातन अतीत के साथ हमारी निरन्तरता का लोप हो गया होता। ऐसे महान् शिक्षकों के कारण ही ऐसा नहीं हुआ।

शंकर की गीता-भूमिका में हमें ये विचार मिलते हैं। उस काल के कुछ भारतीय नेताओं ने प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण अपनाते हुए कहा था कि हमें पश्चिम से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए, हमें विदेशी भाव नहीं अपनाने चाहिए, हमें अपने ही भावों से चिपटे रहना चाहिए। परन्तु राष्ट्र ने उनकी बातें नहीं सुनी। और स्वामीजी ने भी कहा कि हमारी संस्कृति महान् है, परन्तु साथ ही यह भी जोड़ दिया कि अन्य लोगों के पास भी महान् विचार हैं और हमें उनको विनयपूर्वक स्वीकार करना चाहिए। उन्होंने हमें पश्चिम से राजनीति, अर्थशास्त्र, सार्वजनिक कार्य, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी सीखने को कहा। अमेरिका से अपने एक पत्र में स्वामीजी ने लिखा (विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ. ३२१-२२) –

"क्या समता, स्वतंत्रता, कार्यकौशल तथा पौरुष में तुम पाश्चात्यों के भी गुरु बन सकते हो? क्या तुम उसी के साथ साथ स्वाभाविक आध्यात्मिक अन्तःप्रेरणा तथा अध्यात्म-साधनाओं में एक कट्टर हिन्दू हो सकते हो?"

यह दूसरों से सीखने का भाव हमारे लिए कोई नयी बात नहीं है। **मनुस्मृति** (२/२३८) में हमें यह उक्ति मिलती है –

श्रद्दधानः शुभां विद्यां आददीत अवरादपि ।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ।।

– अपने से छोटे से भी परम श्रद्धा के साथ उत्तम विद्या ग्रहण करनी चाहिए, अन्त्यज से भी परम धर्म अर्थात् मुक्ति का मार्ग सीखना चाहिए और बुरे कुल से भी कन्या-रत्न को ग्रहण करना चाहिए।

इस उक्ति में हमें क्या ही उदार सामाजिक दृष्टिकोण प्राप्त होता है! स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि नया भारत पूरब तथा पश्चिम का एक अच्छा सम्मिलन होना चाहिए; आज भारतभूमि पर प्राचीन हिन्दू के साथ प्राचीन यूनानी का मिलन हो रहा है। ये मद्रास में फरवरी १८९७ में प्रदत्त 'हमारा वर्तमान कार्य' शीर्षक व्याख्यान से उनके अपने शब्द हैं। प्राचीन भारत की हमारी शिक्षा एकीकृत हुआ करती थी। हमने अपनी संस्कृति को बचाये रखकर भी दूसरों से जो कुछ प्राप्त हो सकता था, उसे लिया और आत्मसात् कर लिया। अब पुनः ऐसा ही सम्मिलन एक नये भारत की रचना करेगा। इस विचार को धीरे धीरे, परन्तु स्थिर भाव से फैलना है-। आज हममें अनेक कमियाँ, दुर्बलताएँ तथा दोष हैं। परन्तु ये एक पुनर्जीवित हा रहे राष्ट्र की विकास-प्रक्रिया के अंग हैं। एक वंचित जनता, जीवन में कोई मौका पाते ही छोटी-बड़ी गलतियाँ करती है, परन्तु वे लोग अपने आपको सुधार सकते हैं, क्योंकि महान् आचार्यों ने हमें इसकी पद्धति या मार्ग दिखा दिया है।

संस्कृतियों के मेल-जोल का यह विचार अद्भुत है। वस्तुतः आधुनिक यूरोपीय सभ्यता एक सांस्कृतिक सम्मिलन की उपज है। १५वीं-१६वीं शताब्दी में यूनानी चिन्तन ने यूरोप में प्रवेश किया। यूनान तब तक एक मृत राष्ट्र हो चुका था। यह लगभग दूसरी सदी में रोम द्वारा पराजित हो गया था। तीसरी सदी में इसने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया था, जो कि प्राचीन यूनानी सभ्यता के लिए बिल्कुल विजातीय था। आम तौर पर हम देखते हैं कि ईसाई धर्म तथा इस्लाम, जहाँ कहीं भी गए, वहाँ जो कुछ भी प्राचीन था उसका उन्होंने ध्वंस कर डाला। अतः प्राचीन यूनानी विचारधारा केवल पुस्तकों में ही सीमित रह गई। पश्चिमी यूरोपीय बर्बर थे और वे यूनानी चिन्तन से पूर्णतः अपरिचित थे। डेन्यूब नदी के उस पार तथा रोमन साम्राज्य के परे स्थित स्कैन्डिनेवियन राष्ट्र तथा जर्मनी, सभी बर्बर देश थे। बाद में रोमन लोगों ने ईसाई धर्म को अपना लिया, परन्तु उस धर्म का जीवन के प्रति दृष्टिकोण संकीर्ण था। यह यूनानी तथा रोमन लोगों की महान् उपलब्धियों का सही मूल्यांकन नहीं कर सका और उन्हें पैगन (मूर्तिपूजक) कहने लगा। इन संस्कृतियों का विनाश कर दिया गया। यूरोपीय इतिहास के इस काल – १२५० ई. तक के मध्यकाल को अन्धयुग कहा गया है।

उसी समय पूर्व तथा पश्चिम को जोड़नेवाला, यूरोप का हृदय-रूप रोम का कुस्तुन्तुनिया नगर तुर्कों द्वारा जीत लिया गया। तुर्क मुसलमान बलवान-से-बलवत्तर होते गए और उन्होंने आसपास के सभी ईसाई देशों पर विजय प्राप्त कर ली। १४५३ ई. में कुस्तुन्तुनिया का पतन हुआ और अनेक यूनानी विद्वान् अपनी पुस्तकों के साथ पश्चिमी यूरोप को प्रस्थान करने लगे। यूरोपवासियों को तुर्की से होकर यात्रा करने की अनुमति नहीं थी, जिसके फलस्वरूप यूरोप का पूर्व और यहाँ तक कि भारत के साथ भी सारा सम्पर्क टूट गया। इसके कारण पश्चिम ने भारत पहुँचने के लिए केप-ऑफ-गुड-होप से होकर नया मार्ग खोजा और कुछ अन्य लोग पश्चिम की ओर से भारत की ओर बढ़ते हुए अमेरिका पहुँचकर उसी को भारत समझ बैठे। यह अर्वाचीन इतिहास है। पर १४५३ ई. में कुस्तुन्तुनिया के पतन से यूनानी विचारों का पश्चिमी यूरोप में प्रवेश हुआ और इसने उन्हें मानवता, धर्मनिरपेक्षता तथा उदार भावों की एक नवीन दृष्टि प्रदान की। इससे वह काल

आरम्भ हुआ जिसे यूरोपीय इतिहास में 'पुनर्जागरण' कहा जाता है। तदुपरान्त १६वीं शताब्दी तथा उसके बाद के सभी विकास यूरोपीय मानस पर यूनानी-रोमन संस्कृति के इस संकरण की ही उपज हैं।

बाद में सुधारवाद आया; ईसाई धर्म टूट गया और वोल्टायर आदि कुछ लोग और जर्मनी तथा अन्य देशों की बुद्धिजीवी टोलियाँ नास्तिक हो गयीं। तथापि इसने एक नये यूरोप का सृजन किया, जो तरुणाई तथा ऊर्जा से परिपूर्ण था और जिसे प्राचीन यूनान के समान ही अपने आप में आबद्ध नहीं रखा जा सकता था। केवल ढाई लाख की जनसंख्या वाला एक छोटा-सा एथेंस नगर पूरे यूनानी साम्राज्य पर प्रबल शक्ति का प्रदर्शन करता था। यह एक साम्राज्य बन गया और सिकन्दर के नेतृत्व में इसने भारत तक के अनेक देशों पर विजय प्राप्त की। यूरोप के देश भी वैसे ही थे। उनमें प्रचण्ड ऊर्जा थी और उसे अपने आप में सँभालने में असमर्थ होकर वे बाहर जाकर अन्य देशों को विजय करने, उपनिवेश बनाने, शोषण करने तथा उनका विनाश करने लगे। परन्तु उन्होंने कुछ नये विचार भी दिये। तब यूरोप में एक नया जीवन आया, परन्तु अब उसका भी क्षय हो रहा है। इसी अवसर पर युक्तिपूर्ण तथा उदार भारतीय आध्यात्मिक विचार यूरोप तथा अमेरिका की संस्कृति को पुनर्जीवन प्रदान करने के लिए उन देशों में जाने लगे हैं।

जब अंग्रेजों द्वारा भारत का साम्राज्यवादी प्रभुत्व आरम्भ हुआ, तब यह पूर्व तथा पश्चिम के बीच एक अप्रिय मुठभेड़ थी, परन्तु अब यह एक सुखद टकराव के रूप में परिणत हो गया है। पूर्व तथा पश्चिम के बीच विचारों का आदान-प्रदान हो रहा है और लोग पश्चिम से आनेवाले अनेक विचारों का स्वागत करने लगे हैं। आधुनिक पश्चिमी सभ्यता का रोम के समान विनाश नहीं होगा। रोमन साम्राज्य को मरना पड़ा था और उसका स्थान ईसाई धर्म ने लिया। केवल चर्च तथा उसकी सत्ता का अस्तित्व रहा, बाकी सब कुछ क्रमशः समाप्त हो गया। इतिहासकार प्रो. एर्नाल्ड टॉयन्बी ने सिनेटर सिमैचुज को रोमन पैगनवाद (मूर्तिपूजकों) का प्रतिनिधि बनाकर और रोम के विशप एम्ब्रोस को कैथलिक ईसाई धर्म का प्रतिनिधि बनाकर दोनों के बीच होनेवाले टकराव का उल्लेख किया है। बिशप ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि रोमन साम्राज्य में शक्ति संग्रह करता हुआ ईसाई धर्म ही अब ईश्वर तक जाने का एकमात्र मार्ग हो गया है। इस पर रोमन पैगन सिनेटर सिमैचुज ने ईश्वर की ओर जानेवाले अनेक पथोंवाले पैगन मत का समर्थन किया। परन्तु ईसाई चर्च ने सिनेटर को चुप करा दिया। यहाँ पर टॉयन्बी कहते हैं कि यद्यपि सिनेटर को चुप करा दिया गया था, तथापि उनके दृष्टिकोण को आज भी करोड़ों हिन्दू जीवित रखे हुए हैं।

परन्तु अब भारत के पुनर्जागरण के साथ सभी पाश्चात्य राष्ट्रों में नये विचार प्रवेश कर रहे हैं और वे एक बार फिर नवीन तरुणाई तथा ऊर्जा प्राप्त करेंगे। आज पश्चिम में आपको ऐसे अनेक लोग मिल जाते हैं, जो खाने-पीने तथा सुखान्वेषण रूपी उपभोक्तावाद के दर्शन के साथ वर्तमान जीवन-पद्धति को पसन्द नहीं करते। पहले अमेरिका में और तदुपरान्त फ्रांस में आनेवाला हिप्पी आन्दोलन इसकी प्रथम अभिव्यक्ति थी; उन दिनों धनाढ्य परिवार में उत्पन्न हुए बालक या बालिकाएँ उसके तादात्म्य से स्वयं को अलग रखना चाहते थे। वे साधारण पोशाक पहनते थे, जो त्याग का द्योतक है। यह लोगों में एक नई ऊर्जा के आगमन की शुरुआत है। फिलहाल तो यह चला गया है, परन्तु इसका पुनः विस्फोरण हो सकता है।

शंकराचार्य के इन शब्दों में आप मानव-समाज के विषय में, मानव के सामुदायिक उद्यम के विषय में सत्य को पढ़ते हैं। संस्कृति में एक तरंगाकार गति होती है – एक बार वह नीचे जाकर फिर ऊपर उठती है। जैसा कि मैंने पहले कहा हमारे देश में इसकी ऊर्ध्व गति सर्वदा किसी आध्यात्मिक महापुरुष द्वारा आरम्भ की गई। कोई राजनेता, या सैन्य प्रशासक और यहाँ तक कि कोई भौतिक विज्ञानी भी ऐसे आन्दोलन का सूत्रपात नहीं कर सकता। ऐसे आन्दोलन को तो केवल एक ऐसा देवमानव ही आरम्भ कर सकता है, जिसकी मनुष्य के हृदय में स्थित सत्य के विषय में गहरी अन्तर्दृष्टि हो। इस सन्दर्भ में मैं पहले ही स्वामी विवेकानन्द के न्युयार्क में दिये हुए 'मेरे गुरुदेव' शीर्षक मनोरम व्याख्यान से उद्धरण देकर बता चुका हूँ कि कैसे वर्तमान युग में भारत तथा पश्चिम के बीच एक नये सामंजस्य की प्रक्रिया जारी है। आपस में आदान-प्रदान के द्वारा एक नयी संस्कृति तथा एक वैश्विक चेतना का विस्तार होगा और समाज में एक नये सार्वभौमिक समन्वय का प्रादुर्भाव होगा।

इसके पहले मैंने उल्लेख किया है कि प्राचीन भारत में श्रीकृष्ण के रूप में एक महान् अवतार आए थे। **महाभारत** के काल पर चर्चा करते हुए शंकराचार्य ने कहा है, और मैं पहले ही उद्धृत कर चुका हूँ – जब भोगों की कामना के अतिरेक और विवेक तथा सद्ज्ञान के अभाव से **अधर्म** के द्वारा **धर्म** अभिभूत हो गया, तब **सनातन धर्म** के महान् वैदिक दर्शन तथा आध्यात्मिकता की रक्षा करने के लिए भगवान नारायण देवकी तथा वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण के रूप में अवतरित हुए।

इसके बाद मैंने भारतीय समाजशास्त्र के **ब्राह्मणत्व** के आदर्श पर चर्चा की थी और उस सन्दर्भ में मैंने इस मानवीय आदर्श के प्रति भगवान बुद्ध का महान् श्रद्धाभाव दिखाते हुए **धम्मपद** से उद्धरण दिये थे। यह एक व्यक्ति या जाति नहीं,

बल्कि एक आदर्श है, जिसे हर समाज को अपने लक्ष्य के रूप में अपना लेना चाहिए। **ब्राह्मणत्व में सत्त्व का प्राबल्य रहता है और उसमें आत्मसंयम, सादगी, करुणा तथा सेवाभाव विद्यमान रहते हैं।** वह व्यक्ति कभी आक्रामक नहीं होता, सर्वदा शान्ति से परिपूर्ण रहता है और सभी के प्रति शुभ-कामना रखता है। हमारे अपने काल में ही हमने महात्मा गाँधी में ऐसी अभिव्यक्ति देखी, जो जाति की दृष्टि से एक वैश्य होकर भी गुण की दृष्टि से एक ब्राह्मण थे।

यह भगवद्-गीता नाम की पुस्तक इस गुण पर और साथ ही क्षत्रिय गुण पर भी चर्चा करती है। सिंहासन पर बैठनेवाला या मुकुट पहननेवाला हर व्यक्ति क्षत्रिय नहीं हो जाता। **युद्धे च अपि अपलायनम् – गीता के अनुसार क्षत्रिय वह है जो रणक्षेत्र से भागता नहीं; जो साहसी है, उदार है और कभी क्षुद्रता या नीचता नहीं दिखाता।** आज ये गुण हमारे राजनेताओं तथा प्रशासकों को अपनाने होंगे। वैसे हर एक के लिए लक्ष्य तो ब्राह्मणत्व ही है, अर्थात् एक ऐसा समाज जो निम्न से उच्च स्तर की ओर विकसित होता रहता है। मानवीय विकास शारीरिक नहीं है; यह मूलत: नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास है। मनुष्य को बेहतर अंगों की आवश्यकता नहीं है। हमारे पास तो मस्तिष्क के रूप में श्रेष्ठ अंग है। हमें शरीर-तंत्र की ऊर्जा का उच्चतर स्तरों की ओर विकास में उपयोग करना होगा। यहीं पर सत्त्व की आवश्यकता पड़ती है। आज हमारे पास यथेष्ट ऊर्जा है और हम लोगों की हत्या करते हैं, घरों में आग लगाते हैं, क्योंकि वह ऊर्जा सत्त्व के द्वारा परिष्कृत नहीं है। अतएव हमारे सामने चुनौती है इस ऊर्जा को परिष्कृत करने की, मानवीकृत करने की और **ब्राह्मणत्व** के आदर्श को प्राप्त करने की। अवतार **ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं** – ब्राह्मणत्व की रक्षा हेतु आते हैं। अवतार वेद और ब्राह्मणत्व के आदर्श की रक्षा करने के लिए आते हैं। वैदिक या **सनातन धर्म** अपने स्वभाव से ही सार्वभौमिक, अत्यन्त शुद्ध तथा युक्तिपूर्ण है। किसी काल में यह जगत् के बहुत-से भागों में फैला था, उसके बाद यह संकुचित हुआ और अब यह एक बार फिर फैल रहा है। **वैदिक धर्म में सभी धर्म समाहित हैं,** यह सभी धर्मों को सत्य मानता है और हमें अन्यत्र कहीं भी इस तरह की सार्वभौमिक दृष्टि देखने को नहीं मिलती। वैदिक धर्म तथा ब्राह्मणत्व के आदर्श को बचाये रखने के लिए श्रीकृष्ण ने वसुदेव तथा देवकी के पुत्ररूप में जन्म लिया। **स्वप्रयोजन अभावे अपि** – जहाँ तक उनका अपना सवाल था, उनका कोई भी निजी उद्देश्य नहीं था। उन्होंने अपनी स्वयं की माया से मानव-रूप धारण किया और **वैदिकं हि धर्मद्वयम् अर्जुनाय उपदिदेश** – 'उन्होंने अर्जुन को **प्रवृत्ति लक्षण** तथा **निवृत्ति लक्षण** के रूप में दो प्रकार के धर्म का उपदेश दिया।' उस समय अर्जुन की क्या अवस्था थी – **शोक-मोह-महोदधौ निमग्नाय** – 'वह शोक तथा मोह के समुद्र में निमग्न था। ये दो आवेग जीवन के हर पक्ष को विकृत कर सकते हैं। जैसा कि हम गीता के प्रथम अध्याय में अर्जुन के शोक के वर्णन में देखते हैं कि उसे मानो दु:ख तथा मोह के समुद्र ने अभिभूत कर लिया था।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को और उनके माध्यम से हम सभी को एक गहन सन्देश दिया। करुणा से परिपूर्ण होकर वे नर रूप धारण कर इस संसार में आए और अनेक कष्ट सहे। उनका जीवन समस्याओं से भरा हुआ था। हम लोग सोच सकते हैं कि ऐसी उच्च अवस्था को प्राप्त किया हुआ व्यक्ति एक आसान जीवन बिताता होगा; परन्तु ऐसा बिल्कुल भी नहीं है, क्योंकि यह एक बड़ा ही कठोर जीवन था। सुना है कि महात्मा गाँधी कहा करते थे कि केवल एक महात्मा ही एक अन्य महात्मा के कष्ट समझ सकता है। जैसा कि हम आज के राजनीतिक जीवन में देखते हैं, श्रीकृष्ण का भी चरित्र-हनन हुआ था। किसी ने आरोप लगाया कि कृष्ण ने उसका स्यामन्तक नाम का मूल्यवान रत्न चुरा लिया है और उन्हें चोर कहा। बेचारे कृष्ण को अपनी निर्दोषिता सिद्ध करनी पड़ी! उन्होंने इसकी खोज करते हुए आखिरकार दो छोटे बच्चों को उसके साथ खेलते पाया और उसे उसके स्वामी के पास वापस पहुँचा दिया। झूठे आरोपों के ऐसे अनेक उदाहरण हैं। श्रीकृष्ण ने उनकी उपेक्षा की होती, क्योंकि उन्हें किसी से कुछ लेना-देना नहीं था। तथापि मानव शरीर में रहते समय अवतार को भी पीड़ा तथा अपमान का कष्ट सहना पड़ता है। उनके जीवन में जो कुछ आनन्द भी होते हैं, वे अनेक कष्टों के द्वारा घट जाते हैं। किसी भी नर शरीरधारी को इनसे होकर गुजरना पड़ता है। तथापि एक अवतार को यह बोध बना रहता है कि मानव शरीर में रहने पर भी उनके भीतर पूर्ण दिव्यता विद्यमान है। श्रीकृष्ण के जीवन का महानतम क्षण तब आया, जब कुरुक्षेत्र के रणांगन में उन्होंने अर्जुन के माध्यम से मानवता को गीता का सन्देश दिया और इसीलिए हम पिछले हजारों वर्षों से उनका स्मरण करते हैं।

❖ **(क्रमश:)** ❖

सहानुभूति और सहायता

भैरवदत्त उपाध्याय

संवेदना एवं सहानुभूति मानव का स्वाभाविक गुण है; उसकी कोमल वृत्तियाँ हैं। करुणा, दया, प्रेम आदि गुणों के लिए ही ईश्वर ने मनुष्य को पैदा किया है; वरना शैतान उनकी हर आज्ञा का पालन करने के लिये तैयार था, तैयार है –

दर्द-ए-दिल के वास्ते पैदा किया इंसान को ।

संवेदना और सहानुभूति कारुणिक भाव हैं। ये दोनों भाव वेदना के साथ ही उत्पन्न होते हैं और अन्त तक साथ साथ चलते हैं, सहानुभूति अनुभूति के साथ प्रकट होती है। दु:खात्मक-सुखात्मक अनुभूतियों के साथ इनका सम्बन्ध होता है। ये एक प्रकार के संवेग हैं। जिनका अनुभव दूसरा व्यक्ति करता है। संवेदना सम् – सम्यक् – वेदना है, जिसका अर्थ है कि जब व्यक्ति को शारीरिक एवं मानसिक कष्ट होता है; तब सामाजिक को पीड़ा होती है। उसकी अनुभूति कर सहृदय को विचलन होता है। यथार्थ में पीड़ित व्यक्ति की वेदना को देखकर ही संवेदना या सहानुभूति होती है। वह संवेदनात्मक अनुक्रिया करता है। यह अनुक्रिया व्यक्ति व्यक्ति के साथ, व्यक्ति समूह के साथ और समूह समूह के साथ करता है। वस्तु या व्यक्ति से राम को जब पीड़ा पहुँचती है, उसे देख या सुनकर श्याम को गहरा आघात लगता है। उसकी प्रतिक्रिया में जो भावात्मक ग्ग क्रियात्मक अभिव्यक्ति होती है, वही संवेदना या सहानुभूति कहलाती है। उदाहरण के लिए आदि कवि वाल्मीकि ने देखा कि सामने वृक्ष पर क्रौंच मिथुन प्रेमासक्त है। एक बहेलिए ने उसमें से एक को मार डाला। क्रौंची भाव-विह्वल हो गई, दुखी हुई। उसे देखकर ऋषि व्यथित हुये। उन्होंने बहेलिए को अभिशप्त कर दिया। ऋषि के हृदय में क्रौंची की पीड़ा से जो पीड़ा हुई और उसी अनुक्रम में अभिव्यक्त जो क्रिया हुई, उसी को संवेदना या सहानुभूति कहते हैं। कोई व्यक्ति सागर में डूब रहा है, उसे बचाने के लिये अपने प्राणों की चिन्ता न कर कोई सागर में कूद पड़ता है; घर में आग लगी है, कितने ही लोग उसे बुझाने के लिये जुट जाते हैं। व्यक्ति भूखा है, मर गया है अथवा किसी आघात से दुर्घटनाग्रस्त हो गया है, तो कितने ही लोग अपनी संवेदना व्यक्त करने के लिए आ जाएँगे। यह संवेदना वाचिक अथवा क्रियात्मक हो सकती है। पिछले भारत-पाकिस्तान युद्ध में हमारे देश के लोगों ने भारतीय सेना को हर तरह सहायता पहुँचाई। अमेरिका में जो आतंकी हमला हुआ, उसकी निन्दा सारे विश्व ने की। संवेदना शब्दों तक ही सीमित नहीं रहती, उसकी सार्थकता क्रियात्मकता में है। मनुष्य ऐसी स्थिति में कुछ करने के लिये क्रियाशील हो जाता है। यह सम्पत्ति मनुष्य की पारम्परिक धरोहर है। समाज में इसका अस्तित्व है और वही उसकी जीवन्तता का प्रतीक है। अन्य जीवित प्राणियों में भी इसका अस्तित्व देखने को मिलता है, परन्तु पूर्ण उत्तराधिकारी मनुष्य है। एक हाथी जब दलदल में फँस जाता है, तब अन्य हाथी मिलकर उसे निकालते हैं। बन्दर, कौआ, दीमक, मधुमक्खी, कुत्ता आदि प्राणियों में भी सामूहिकता की प्रवृत्ति है और वे संवेदना में यत्किंचित् प्रतिक्रिया करते हैं। संवेदना के लिये कुत्ता बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। पुलिस विभाग ने उसे बड़े साहब की कुर्सी दी है, रैंक भी दिया है। परन्तु पशु की संवेदना दूसरे प्रकार की होती है। मानवीय संवेदना से उसकी कोई तुलना नहीं। विचार और क्रिया – दोनों का समावेश मानवीय संवेदना में होता है। हृदय पक्ष की प्रधानता रहती है। संवेदना एक संवेग है अवश्य; परन्तु उसे कहीं बाहर से लाना नहीं पड़ता। यह स्थायी है और हृदय की सम्पत्ति है। जब जरूरत हो, प्रकट हो जाती है।

समाज का अस्तित्व संवेदनाओं पर आश्रित है। इसमें जितनी व्यापकता और गहराई होगी, सामाजिक सत्ता उतनी ही सुदृढ़ होगी, पर आज संवेदनाओं का मूल्य कम हो रहा है, कारण यह है कि शारीरिक क्षमताओं में जितनी न्यूनता होगी, उतनी ही इसकी अभिव्यक्ति प्रभावित होगी। पंगुता, बधिरता, अन्धत्व तथा मानसिक विकलांगता होने पर इन संवेगों में क्षीणता आ जाती है, व्यक्तिगत राग-द्वेष भी इनकी साधना में बाधक हो जाते हैं। भाषा व प्रतीकों की पैठ भी इनके व्यापार में सक्रियता लाती है। सामाजिक रूढ़ियाँ, पूर्वाग्रह, अन्धविश्वास, धर्मान्धता तथा साम्प्रदायिकता इन्हें प्रभावित करते हैं।

व्यक्तिवाद हमारी मानवीय संवेदना को घटाता है। पश्चिमीकरण, वर्तमान शिक्षा, सिनेमा, रेडियो, टी.वी. आदि से व्यक्तिवाद पनप रहा है। हमारा सामाजिक जीवन सिमटता जा रहा है। प्रकृति से हम कोसों दूर पहुँच गये हैं। एक समय था जब पेड़-पौधे, नदी-नाले आदि तक हमारी संवेदना फैली थी और हम दोनों एक दूसरे के सुख-दुख में समभागी थे। महर्षि कण्व की शकुन्तला जब आश्रम से विदा हुई, तब समूचा वातावरण संवेदना के रस में डूबा हुआ था। आज मानव का शव चौराहों पर पड़ा है, लोग दुर्घटनाग्रस्त हो चौराहों पर पड़े पीड़ा से कराह रहे हैं, आने-जानेवाले कन्नी काट जाते हैं। जब परिचित लोग घर आते हैं, तब लोग भीतर से कह देते हैं – घर पर नहीं हैं। स्थिति गम्भीर है। इसका निदान क्या है? फिर से प्रकृति की शरण में जाने से पुरातन स्थिति बहाल होगी। शिक्षा में मानवीय मूल्यों की स्थापना से यह सम्भव है। वही वातावरण हृदय को भावों से भरे, जीवन की यांत्रिकता में कमी आए। यह समय कब आयेगा, उसकी प्रतीक्षा है। ❑❑❑

एक संन्यासी की भ्रमण-गाथा (५)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' शीर्षक के साथ अपनी भ्रमण-गाथा लिखी थी, जो सम्भवत: रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई । हमें एक जीर्ण-शीर्ण प्रति मिली है, जो हमें अत्यन्त रोचक तथा उपयोगी प्रतीत हुई, अतएव 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के हितार्थ इसे धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है । – सं.)

एक महान् त्यागी

श्रीमद् स्वामी विवेकानन्द के एक गुरुभाई स्वामी अभेदानन्द जी अमेरिका से (१९०६ ई. में) भारत लौटे । वहाँ वे करीब बीस वर्षों तक सफलतापूर्वक वेदान्त-प्रचार का कार्य चलाकर आए हैं। काश्मीर-भ्रमण करने के बाद जब वे कनखल-हरिद्वार पधारे, उस समय परिव्राजक संन्यासी वहीं उपस्थित था। रामकृष्ण मिशन द्वारा संचालित सेवाश्रम-अस्पताल के प्रमुख स्वामी कल्याणानन्द जी ने संन्यासी को यह कार्य सौंपा कि वह सुबह-शाम स्वामी अभेदानन्द जी के पास रहे, उनके साथ बातचीत करे और उनके साथ घूमने भी जाय।

एक दिन बात बात में श्रीमद् स्वामी तोतापुरी जी का प्रसंग उठा। वे परमहंस श्रीरामकृष्ण देव के संन्यास-गुरु थे और उनका जन्म पंजाब में कहीं हुआ था। बहुत कोशिश करने पर भी अब तक ठीक ठीक पता नहीं चल सका है कि नागा परमहंस तोतापुरी जी कौन-से आश्रम या अखाड़े के थे। स्वामी अभेदानन्द जी ने संन्यासी से कहा – "तुम इंधर हो, कोशिश करके देखो, अगर मिल जाय तो अच्छा होगा। लुधियाना जिले में नागा-सम्प्रदाय के अनेक अखाड़े होंगे, जरा तलाशकर देखो। भगिनी निवेदिता (स्वामी विवेकानन्द जी की मानस-कन्या मिस नोबेल) ने भी एक बार जिक्र किया था, जहाँ तक मुझे याद है लुधियाना के आसपास ही कहीं वह अखाड़ा था।" संन्यासी ने सुन लिया और मौका पाते ही यह काम करने का निश्चय कर लिया।

स्वामी अभेदानन्द जी के कलकत्ता चले जाने के बाद यह अवसर मिला। काश्मीर में अमरनाथ दर्शनार्थ कई सन्त जा रहे थे, संन्यासी को भी जाना था, पर उनके साथ जाना सम्भव न था, अत: बाद में जाने का सोचा। लुधियाने के पास किला रायपुर नामक एक कस्बा है, जहाँ उन दिनों एक वृद्ध महात्मा – स्वामी देवपुरीजी निवास करते थे। किसी ने कहा कि शायद उन्हें तोतापुरी जी या वे उनके अखाड़े के बारे में पता हो।

संन्यासी किला लुधियाना होकर किला रायपुर पहुँचा और पुरीजी के आश्रम में गया। जाते ही आश्रमवासी सन्तों ने स्वागत किया, परन्तु उन दिनों पुरीजी की तबीयत नरम थी और वे किसी से मिलते न थे, इसलिए २-४ दिन ठहर जाने को कहा। संन्यासी ठहर गया, इससे बड़ा फायदा हुआ।

वहाँ पुरीजी का एक नेपाली शिष्य था, जो पहले हृषिकेश में श्रद्धेय नेपाली बाबा के यहाँ रहता था और संन्यासी को वहाँ देख चुका था। नेपाली बाबा जाड़े के दिनों में हर रोज शाम के समय साधुओं को भिक्षा में चार रोटियाँ तथा सब्जी दिया करते और बड़े प्रेम से खिलाते थे। स्वामी विवेकानन्द जी जिन दिनों वहाँ तपस्या कर रहे थे, उन दिनों ये भी वहाँ थे, इस कारण स्वामीजी के अनुयाइयों पर विशेष स्नेहभाव रखते थे। संन्यासी जब कभी शाम को उनके यहाँ भिक्षाटन के लिए जाता, तो वे बड़े प्रेम से अलग बैठाकर भरपेट रोटी खिलाते। वहाँ इन नेपाली साधु ने अनेको बार संन्यासी को खिलाया था (तब तक वे संन्यासी नहीं हुए थे)। वहाँ की बातें याद दिलाकर वे संन्यासी के प्रति बड़ा प्रेमभाव दिखाने लगा। रोज सबेरे वे गिलास भर (बादाम की) शरदाई पिलाते, शाम को दूध देते, भोजन के समय बुलाकर ले जाते और पुरानी बातें सुनाकर आनन्द देते। शायद चौथे दिन किसी ने शरदाई न दी, वे नेपाली साधु भी नहीं दिखे। दो बज जाने पर किसी ने खाने के लिए भी नहीं बुलाया, बात क्या है? वहाँ के अन्य सन्त भी न जाने कहाँ लुप्त हो गए थे। कोई भी नजर न आया। संन्यासी हैरान था कि बात क्या है?

करीब तीन बजे वे नेपाली साधु दौड़ते हुए आकर बोले, "क्यों स्वामीजी, आपने कुछ ग्रहण किया है या नहीं। मैं नहीं था, तड़के सूर्योदय से पहले ही एक गाँव में अनाज लेने के लिए चला गया था, किसी ने शरदाई तो दी ही नहीं होगी! और जो हमेशा गाँव से भिक्षा माँगकर रोटियाँ लाता है, वह बीमार है, अत: आश्रम में न कोई रोटियाँ लानेवाला था और न कोई बतानेवाला था, क्योंकि अन्य दो जन भी दूर गाँव में अनाज लाने के लिए गए हुए हैं। हर साल गाँववाले जो दान देते हैं, वह लाना पड़ता है। अन्य सन्तों ने भी आपको कुछ कहा नहीं होगा? यहाँ तो भण्डार सदा खुला पड़ा रहता है; जो जानते हैं, वे आटा, दाल, घी, तेल – जो भी चाहिए, अपने हाथों लेकर खाना पका लेते हैं। मैं आपको पहले यह बताना भूल गया, इससे आपको तकलीफ हुई। गुरु महाराज ने यहाँ कुछ रुकावट नहीं रखी है। अत: सन्त आएँ, तो अपने जैसा ही रहे, जाए तो उनकी मर्जी; जब तक अन्न है खाएँ, नहीं है तो अपनी व्यवस्था कर लें। हम चार जने हैं, हम भी अपनी अपनी मर्जी से काम करते हैं, गुरु महाराज कभी ऐसा नहीं

कहते कि 'तुम ऐसा करो' या 'वैसा मत करो', हुक्म केवल पवित्र जीवन के लिए है, बाकी सब जैसा ठीक समझो, वैसा करो, मिल-जुलकर रहो। आप ये जो भवन देखते हैं, बाग देखते हैं, यह सब शिष्यों ने अपने हाथों बनाए हैं। पैसा देकर मजदूर रखने की मनाही है। अपनी मर्जी से कोई सेवा कर दे, तो मनाही नहीं है। यदि आप यहाँ रहना चाहें, तो एक कोठरी बना ले सकते हैं, पर हाँ, अपनी मेहनत से, यदि आप वैसा करें, तो मैं आपकी मदद कर दूँगा। ... अच्छा थोड़ी शरदाई पी लीजिए, रोटी आज शाम को देर से बनेगी।" ... उस रोज देर से रोटी मिली। बाद में फिर सब नियमित हो गया – सुबह शरदाई, दोपहर को रोटी-दाल, कभी तरकारी सब्जी वगैरह और रात में दूध।

पाँचवें दिन पुरीजी महाराज से मुलाकात की व्यवस्था हुई। (वहाँ एम्पिथिएटर-सा चक्रकार गोल सभागृह था, जिसमें दरवाजों के बलग-बगल में लाइन से २६ खाटें लगी रहतीं हैं। जो खाली हो, उस पर कोई भी सन्त आसन लगा ले, पूछने की जरूरत नहीं। प्रत्येक चारपाई के दोनों ओर खुला द्वार और बीच में इतनी जगह थी कि करीब दो सौ लोग बैठ सकें। पूरे गाँव के लिए काफी है।) उस दिन वे तीन बजे अपने कमरे से बाहर निकलकर सभागृह में पधारे और योगवाशिष्ठ से कथा सुनाई। वहाँ 'योग-वाशिष्ठ', 'विचार-सागर' आदि वेदान्तिक ग्रन्थों का ही पाठ तथा चर्चा हुआ करती थी और अधिकांश समय पुरीजी स्वयं ही पाठ किया करते थे। कुशल-प्रश्न के बाद जब वे जा रहे थे, तभी एक पंजाबन बाई आई। उसने पतली मखमल की चादर जैसी कुछ साड़ी-सी ब्रना ली थी, सभी अंगों के रंग सहित पूरी आकृति भी दिख रही थी और पैरों में ऊँची एड़ियोंवाली खड़ाऊ पहन रखी थी। वह सुन्दर युवती आई और हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए कम्पित अनुनासिक स्वर से कहने लगी, जिसका सार-मर्म यह था – "आप पूरन ब्रह्म सच्चिदानन्द हैं, आपका दर्शन बड़े भाग्यवान को ही मिलता है, देवता भी आपके दर्शन को तरसते हैं, आपकी कृपादृष्टि रहने पर सारी सिद्धियाँ मिलती हैं। पूर्व जन्म में मैंने न जाने कितना पुण्य किया था कि आज आपके दर्शन मिले। अहो, ऊपर से देवगण देखते होंगे, पितरों को ईर्ष्या होती होगी। आप जैसे महात्माओं के चरणस्पर्श करने की अभिलाषा किसे नहीं होती!" इतना कहकर वह खड़ाऊ पहने ही चरण छूने को झुकी। पुरीजी पीछे खिसक गए और – "घर जाकर ग्रन्थ पढ़ो, शान्ति मिलेगी" – कहकर चल दिए।

संन्यासी तो पौराणिक युग की पुनरावृत्ति देख रहा था। (पुरीजी ने) बाद में उन्होंने संन्यासी को अपने कमरे में बुला लिया। तोतापुरी जी के बारे में पूछने पर पता चला कि उस विषय में आपको कुछ ज्ञात नहीं था। अन्य दो-चार बातें हुईं, आपने बारम्बार स्नेहपूर्वक कुछ रोज ठहरने के लिए कहा, क्योंकि अभी अमरनाथ-यात्रा आरम्भ होने में देरी थी।

रात के दस बजे उन नेपाली सन्त के साथ एक अन्य सन्त भी आए। परिचय से ज्ञात हुआ कि आप पुरीजी के प्रधान शिष्य हैं। पूर्वाश्रम में आप डॉक्टर थे। काश्मीर गए हुए थे। पुरीजी बहुत बीमार हैं, सुनकर चले आए हैं इत्यादि।

सामान्य प्रसंग के बाद नेपाली जी ने निवेदन किया कि आगत सन्त एक खास बात करने को आये हैं। संन्यासी ने सुनने की सहमति जतायी। उनके कथन का सार-संक्षेप इस प्रकार था – "गुरु महाराज वृद्ध (७७-७८ वर्ष के) हो गए हैं, कमजोर भी हो गए हैं, शरीर का कोई भरोसा नहीं। ... हम सबने बहुत मेहनत करके यह आश्रम बनाया है, परन्तु इसका कोई पक्का दस्तावेज नहीं है। वे जब यहाँ आए थे, तो इस बाग में ठहरे थे और तब यहाँ फूस की केवल एक छोटी-सी झोपड़ी भर थी। इसके मालिक एक सन्त-प्रेमी जागीरदार सरदार ने बड़े प्रेम के साथ उन्हें यह कहकर इसमें ठहराया था कि यहीं भोजन करिए और रहिए। बस, गुरु महाराज ठहर गए और बाद में हम सब एक-एककर आ मिले। धीरे धीरे यह आश्रम बन गया। सरदार जी और गुरु महाराज भी अभी जीवित हैं और दोनों वृद्ध हो गए हैं, रहते रहते दान-पत्र लिख दें, तो कानूनी दृष्टि से पक्का हो जाय। ... सरदार जी के पुत्र तो सब अच्छे हैं, किसी ने आज तक कुछ कहा नहीं है, पर क्या जाने मति कब कैसी हो जाय, इसलिए हम लिखवा लेना चाहते हैं। पर गुरु महाराज बिल्कुल राजी नही होते। कहते हैं – एक वचन पर ठहरा हूँ, एक वचन पर चला जाऊँगा। ... अगर आप समझा सकें, तो बड़ा उपकार होगा।"

संन्यासी ने कहा – "मुझसे तो कोई खास परिचय नहीं है, पाँच मिनट के परिचय से क्या ऐसे गम्भीर विषय पर चर्चा करने का अधिकार हो सकता है?"

वे बोले – "मैं पहले ही कह चुका हूँ, रामकृष्ण मिशन के समान ही इस आश्रम में भी एक संस्था कायम करने का हमारा विचार है, लेकिन जब तक यह बात तय न हो जाय, तब तक कुछ प्रवृत्ति नहीं हो सकती। गुरु महाराज तो मानते नहीं है। आपसे मिलने को और इस विषय पर बात करने को राजी हुए हैं, अत: कल समय लेकर आपको ले जाऊँगा, कुछ समझाइएगा, ताकि यह काम हो जाय।"

संन्यासी ने कहा – "परन्तु मैं तो जाकर अपने आप यह प्रसंग छेड़ नहीं सकता। आप शुरू कीजिएगा, फिर उनके विचार सुनकर यदि कुछ कहने का होगा, तो कहूँगा, नही तो, बुरा मत मानिएगा, चुपचाप नमस्कार कर चला आऊँगा।"

सुबह करीब दस बजे वे बुलाने आए और संन्यासी पुरीजी से मिलने के लिए उनके निजी कमरे में गया।

सभी मकान मिट्टी के सुन्दर और मजबूत बने हुए हैं, जैसा कि पंजाब में रिवाज है। रसोई के बरामदे में से जाकर कोठार घर के ऊपर जाने के लिए एक बाँस की सीढ़ी रखी थी, उस पर चढ़ने के बाद एक छोटा-सा द्वार मिला, फिर नीचे झुककर गुफा में घुसा जाय, वैसा अन्दर जाने का मार्ग था, उसमें से हम सभी घुसे। कमरा स्वच्छ, कोई चीज नहीं; सिर्फ एक चटाई है, जिस पर पुरीजी शयन भी करते हैं; एक ही कम्बल है, जिससे बाहर जाते समय पुरीजी अपना शरीर ढँकते हैं और आवश्यकतानुसार ओढ़ते भी हैं। सिरहाने के लिए केवल एक ईंट है। बस, इतनी ही सामग्री है। फर्श साफ गोबर मिट्टी से लिपी हुई थी।

हम सब फर्श पर बैठे। प्रधान शिष्य डॉक्टर ने बात उठाई। पुरीजी ने (संन्यासी की ओर देखते हुए) कहा – "मैं कह नहीं सकता, मैं तो एक ही वचन से रहा हूँ और एक ही वचन से चला जाऊँगा। उन्होंने कहा था – रहो, मैं रह गया, यदि इसी क्षण कहें – जाओ, तो चला जाऊँगा।"

डॉक्टर – "हम लोगों ने इतना सब बनाया, यदि औरों से बनवाया जाता, तो लाखों खर्च हो जाता। यह सारी मेहनत व्यर्थ चली जाएगी।"

पुरीजी – "पर, तुमने बनाया ही क्यों? यदि आज उन लोगों को जरूरत हो, तो क्या उन्हें वापस नहीं दिया जाना चाहिए? ... तुम अन्यत्र उठा ले जाओ!"

डाक्टर – "पर महाराज, मकान किस प्रकार उठाए जाएँगे? फिर हमने इतना बाग-बगीचा भी जो किया है?"

पुरीजी – "सो मैं नहीं जानता, मैं तो एक ही वचन से रह रहा हूँ और एक ही वचन से चला जाऊँगा।"

अब संन्यासी को मौका मिला। कहा – "यदि आपके मन में यह बात तय थी, तो जब ये लोग मेहनत करके मकान तथा बाग-बगीचे बना रहे थे, तब आपने इस बात का ध्यान क्यों नहीं दिलाया? बेअदबी माफ हो, यदि उस समय आप जरा भी इशारा कर देते, तो ये लोग कदापि इतना सब नहीं बनाते।"

डॉक्टर ने कहा –"जरूर! यदि हमें यह बात मालूम हो जाती, तो हम क्यों मेहनत करते?"

पुरीजी चुप होकर विचार करते रहे।

संन्यासी ने कहा – "आपका सिद्धान्त अति उत्तम है और एक महान् त्यागी की मनोवृत्ति का द्योतक है। ऐसी राय सुनकर मुझे बहुत हर्ष हो रहा है। परन्तु क्षमा करें, इन लोगों को उसी समय रोकना था, मगर आपने जरा-सा इशारा तक क्यों नहीं किया? इससे .... ।"

पुरीजी गम्भीर होकर बोले – "इस दृष्टि से मैंने सोचा ही नहीं था। अच्छा, आप और तीन दिन ठहर जाइए (संन्यासी लाहौर-रावलपिंडी जाना चाहता था), मैं विचार करके कहूँगा।"

दूसरे ही दिन दोपहर को पुरीजी ने बुलाया और सब शिष्यों के समक्ष कहा – "मुझसे गल्ती हुई है, मै इसे स्वीकार करता हूँ। यदि मैं उस वक्त कह देता, तो ये लोग चेत जाते, पर अब क्या किया जाय? मैं तो अपना सिद्धान्त छोड़ नहीं सकता।"

संन्यासी बोला – "नहीं, नहीं, आप अपना सिद्धान्त मत छोड़िए, पर इन लोगों को चेष्टा करने की अनुमति दे दीजिए।"

पुरीजी – "पर मान लो यदि सरदार जी कह दें कि जाओ, नहीं लिखता। तो मैं उसी वक्त चल दूँगा।"

डॉक्टर – "हमें विश्वास है कि सरदार जी वैसा नहीं कहेंगे। पर यदि दैवेच्छा से वैसा कर भी दें, तो आपकी जैसी मर्जी, आप अवश्य करिएगा। पर हम ... ।"

पुरीजी – "बस, मैं इससे ही सन्तुष्ट हूँ, आगे चर्चा की आवश्यकता नहीं है।"

हम सब नीचे आ गए, डॉक्टर तथा अन्य गुरुभाई खुश हो गए थे। तीसरे ही दिन काम भी हो गया। डॉक्टर ने जाकर सरदार जी से कहा – आप दोनों वृद्ध हो गए हैं, एक कुछ लिखा-पढ़ी हो जाना अच्छा है, जो आपकी दृष्टि से तो अनावश्यक है, परन्तु ... आदि आदि। सरदार जी ने मुनीम को बुलाकर हुक्म दिया – चोपड़े में लिख लो स्वामी देवी पुरीजी की सेवा में अर्पण है।

❖ (क्रमशः) ❖

शिवज्ञान से जीवसेवा

स्वामी ब्रह्मेशानन्द

सन् १९०० ई. के जून महीने के एक दिन की बात है। जामिनी-रंजन नामक एक युवक सूर्योदय के बहुत पहले वाराणसी की सँकरी अन्धकारमयी गलियों से होता हुआ, गंगा-स्नान कर बाबा विश्वनाथ के उद्देश्य से घाट की ओर अपने कदम बढ़ाये चला जा रहा था। सहसा उसने मानव-कण्ठ से निकली एक क्षीण कराह सुनी। बहुत-से लोग उस मार्ग से गुजरे थे, परन्तु किसी ने ठहरकर उस ओर झाँककर देखने का प्रयास नहीं किया था। लेकिन जामिनी-रंजन रुका और उस ओर देखने पर उसनें पाया कि एक कृशकाय, दुर्बल, भूखी और रोगग्रस्त वृद्धा उस गली के किनारे पड़ी हुई है। उसे देखकर वृद्धा ने क्षीण स्वर में कहा, "बेटा, मैंने चार दिनों से कुछ खाया नहीं है, कुछ खाने को दे दो।"

जामिनी-रंजन ने वृद्धा देवी को सावधानी के साथ उठाकर निकट के मैदान में चबूतरे पर सुला दिया और दौड़कर गंगा के घाट पर जा पहुँचा। वहाँ कुछ लोग प्रात:स्नान के लिए आ चुके थे, उनमें से किसी एक से उसने दान के रूप में एक चवन्नी प्राप्त की। और उससे कुछ पका हुआ खाना खरीदकर वृद्धा के पास ले गया और उसे खिलाकर उसकी प्राण-रक्षा की। इस प्रकार 'शिवज्ञान से जीवसेवा' के महान् सेवा-यज्ञ का श्रीगणेश हुआ। स्वामी विवेकानन्द ने निर्धनों, रोगियों तथा पीड़ितों को ईश्वर की प्रतिमूर्ति जानकर उनकी सेवा का जो उपदेश दिया था, यह उसी का व्यक्त रूप था।

इस छोटे-से प्रारम्भ से शुरू हुए – इस छोटे-से सेवा के बीज ने आज एक महान् वटवृक्ष – विशाल अस्पताल का रूप धारण कर लिया है, जो वाराणसी में आज 'रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम' के नाम से विख्यात है और गत वर्ष जिसकी शताब्दी मनायी गयी। २३० शय्याओं वाले इस चिकित्सालय में प्राय: सभी आधुनिक सुविधाएँ तथा विशेषज्ञ-सेवाएँ उपलब्ध हैं। इसका बहि:रोगी विभाग अत्यन्त व्यस्त रहता है। यहाँ आधुनिक उपकरणों से युक्त एक निदान-केन्द्र, एक्स-रे, अल्ट्रा-साउन्ड, एण्डोस्कोपी आदि की सुविधाओं के साथ-ही-साथ दो व्यस्त आपरेशन कक्ष भी हैं। लेकिन एक आधुनिक चिकित्सालय के रूप में विकास ही इस संस्था का वैशिष्ट्य नहीं है। संस्था के प्रारम्भिक काल में इसके कर्णधारों तथा पूर्व के संन्यासियों की पीढ़ियों द्वारा अत्यन्त निष्ठा, लगन और श्रद्धा के द्वारा की गई रोगियों की शिवज्ञान से सेवा ही वस्तुत: इस संस्था के इतिहास का सर्वाधिक गौरवमय अध्याय है। इस अध्याय को कुछ पन्ने पलटना परम हितकर तथा प्रेरणादायी होगा। आइए, हम उस स्वर्णिम काल के कुछ प्रेरक प्रसंगों का स्मरण करें।

सेवाश्रम के प्रारम्भिक दिनों में संन्यासी तथा ब्रह्मचारी ही रोगियों की हर प्रकार से सेवा-सुश्रूषा किया करते थे, सेवा के लिए किसी वैतनिक कर्मचारी की नियुक्ति नहीं होती थी। विशेषज्ञ-चिकित्सकों द्वारा चिकित्सा-सम्बन्धी परामर्श और शल्य चिकित्सा को छोड़कर बाकी के सारे कार्य – यथा वार्डों को सफाई, मल-मूत्र आदि के पात्रों को धोना, रोगियों की परिचर्या, उनके बिस्तरों आदि की सफाई, उनके कपड़े बदलना, रोगियों के शरीर को गीले कपड़े से पोंछना, उन्हें दवाइयाँ खिलाना आदि सब कुछ साधु-ब्रह्मचारी स्वयं ही किया करते थे। इतना ही नहीं, वे छोटे-बड़े आपरेशनों के दौरान एक प्रशिक्षित नर्स की भाँति शल्य-चिकित्सकों की सहायता भी करते थे। इन विशिष्ट कार्यों की शिक्षा उन्हें चिकित्सकों द्वारा ही प्राप्त होती थी और वे लोग उन्हें बड़ी लगन के साथ सीख लेते थे अथवा वे इन कार्यों को किसी उनमें प्रशिक्षित कर्मियों से सीख लेते थे। इसके अतिरिक्त वे नर्सिंग की पुस्तकें भी पढ़ते थे।

बनविहारी महाराज

इन साधुओं का एक प्रमुख कार्य था – रोगियों के घावों को साफकर उनकी मरहम-पट्टी करना, चोटीले घावों या चमड़ी के क्षतों की सिलाई करना तथा चोट के रोगियों का तात्कालिक उपचार करना। बनविहारी महाराज नाम से सुपरिचित स्वामी मुक्तानन्द जी ने रोगियों को ईश्वर की प्रतिमूर्ति समझकर प्राय: साठ वर्षों तक उनके घावों की मरहम-पट्टी की थी। वे रोज प्रात:काल ८ बजे के पहले ही ड्रेसिंग रूम (मरहम-पट्टी कक्ष) में पहुँच जाते; अपने गेरुआ वस्त्रों के ऊपर एक सफेद चोंगा (एप्रन) तथा हाथों में पतले रबर के दस्ताने (ग्लोव) पहन लेते और दोपहर के दो बजे तक या सभी रोगियों की मरहम-पट्टी पूरी होने तक कार्य करते रहते थे। दोपहर को भोजन के उपरान्त किंचित् विश्राम के बाद मैली पट्टियों को पानी में उबालकर धोने-सुखाने आदि कार्यों के लिए वे पुन: ड्रेसिंग रूम में आते थे। उन दिनों आजकल की भाँति एक बार उपयोग में लाई गयी सूती पट्टियों को फेंक नहीं दिया जाता था। उन्हें धो-सुखा कर पुन: उपयोग में लाया जाता था। घावों की सफाई, गहरे घावों के भीतर पट्टी को खोंसना, मरहम लगाना आदि सामान्य कार्य बनविहारी महाराज जैसी लगन के साथ करते थे, उसे देखकर लगता कि मानो वे ईश्वर की आराधना कर रहे हों। उनके सेवा-भाव के फलस्वरूप वह साधारण-सा ड्रेसिंग रूम एक देवालय-सा प्रतीत होने लगा था। मरहम-पट्टी करते बनविहारी महाराज का दर्शन सचमुच ही एक देवदुर्लभ दृश्य हुआ करता था।

इतना ही नहीं, ऐसी निष्ठा तथा लगन के साथ मरहम-पट्टी करने के कारण बनविहारी महाराज के हाथों में घावों के सफल उपचार की मानो चमत्कारी क्षमता उत्पन्न हो गयी थी। बड़े गहरे, पुराने और कठिनाई से भरनेवाले घाव भी उनके जादुई स्पर्श से सहज ही भर जाते थे। इस कारण कई शल्य-चिकित्सक अपने कठिन, गहरे तथा पुराने घावोंवाले रोगियों को मरहम-पट्टी के लिए उन्हीं के पास भेजा करते थे।

जैसा कि हम प्रारम्भ में ही कह चुके हैं, रास्ते के किनारे उपेक्षित पड़ी हुई एक वृद्धा के उपचार के साथ वाराणसी के इस सेवाश्रम की शुरुआत हुई थी। इस परम्परा के अनुरूप वाराणसी की गलियों, घाटों आदि पर उपेक्षित पड़े रोगियों को ढूँढ़ निकालना तथा उनकी सेवा करना सेवाश्रम के संन्यासियों का सदा ही एक पवित्र कर्तव्य बना रहा। सड़कों पर पड़े ऐसे रोगियों की सेवा वी.आई.पी. (विशिष्ट व्यक्तियों) की भाँति की जाती थी। एक बार ऐसे ही उपेक्षित रोगियों की खोज के दौरान सेवाश्रम के संन्यासियों को एक पागल दिखाई पड़ा, जिसकी पीठ पर मवाद से भरा हुआ एक बड़ा घाव था। उन लोगों ने सोचा की यदि किसी उपाय से बनविहारी महाराज के हाथों इसकी मरहम-पट्टी हो सके, तो यह घाव भर जाएगा। यह सोचकर वे लोग उस पागल को बलपूर्वक पकड़कर सेवाश्रम में ले आए और उसे एक कमरे में बन्द कर दिया, ताकि वह भाग न सके। उसके भोजन आदि की व्यवस्था कर दी गई और बनविहारी महाराज प्रतिदिन उसके घाव की मरहम-पट्टी करने लगे। धीरे धीरे रोगी का घाव भरने लगा और उसके शारीरिक स्वास्थ्य में सुधार हुआ। लेकिन उसकी मानसिक दशा में कोई सुधार नहीं हुआ।

अब सेवाश्रम के संन्यासियों ने उसके पागलपन को भी ठीक करने का निश्चय किया। किसी ने सुझाया कि एक विशेष आयुर्वेदिक काढ़े के सेवन से रोगी का पागलपन दूर हो सकता है। परन्तु अत्यन्त कड़वा काढ़ा ऐसे पागल रोगी को पिलाना आसान नहीं था, तथापि संन्यासियों ने इसे सम्पन्न करने का बीड़ा उठाया। श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त के उत्तम वैद्य की भाँति एक संन्यासी रोगी के सीने पर चढ़कर बलपूर्वक उसके हाथों को पकड़ लेते और दूसरे संन्यासी उसका सिर थामकर उसके मुँह को एक चम्मच की सहायता से खोलकर काढ़े को उसमें उड़ेल देते। और इस पद्धति का अच्छा परिणाम भी निकला। रोगी का पागलपन धीरे धीरे कम होने लगा और उसकी स्मृति लौट आयी। शारीरिक व मानसिक रूप से पूर्ण स्वस्थ होने पर उसने बताया कि वह बलिया का निवासी है। अन्ततोगत्वा रेल का टिकट बनवाकर उसे उसके शहर भेज दिया गया।

एक बार सेवाश्रम में सड़क के किनारे पड़ा एक अन्य रोगी भर्ती हुआ। उसके शरीर पर तीव्र दुर्गन्धयुक्त घाव थे और कोई भी उसके निकट नहीं जाना चाहता था। फलतः बनविहारी महाराज की मरहम-पट्टी के बावजूद उसकी सामान्य परिचर्या ठीक से नहीं हो पा रही थी। यह उस समय की बात है, जब संन्यासी सेवकों की कमी के कारण वैतनिक सेवकों की नियुक्ति करनी पड़ती थी और उसमें संन्यासियों के समान सेवा के प्रति निष्ठा तथा लगन नहीं थी। फलतः रोगी के स्वास्थ्य में आशाजनक सुधार नहीं हो रहा था। ऐसी स्थिति में बनविहारी महाराज ने एक युक्ति सोची। उन्होंने एक सेवक को एकान्त में बुलाकर कहा, "जानते हो, यह रोगी कौन है? ... ये मेरे पिताजी हैं। काशीवास करने तथा काशी में मृत्यु द्वारा मुक्ति पाने के उद्देश्य से यहाँ आये थे। परन्तु दैवयोग से उनकी ऐसी दशा हो गई है। लेकिन यह बात किसी से कहना मत, नहीं तो व्यर्थ ही मेरी बदनामी होगी कि मेरे गृहत्याग के फलस्वरूप इन बेचारे की ऐसी दुर्गति हो रही है!"

स्पष्ट है कि बनविहारी महाराज ने यह बात सोच-समझकर एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही की थी। वस्तुतः वह रोगी बनविहारी महाराज का पिता-विता कुछ न था। वे तो सभी रोगियों की शिवज्ञान से सेवा किया करते थे। परन्तु सेवकों को यह बताने से कि 'रोगी भगवान हैं' उतना असर नहीं होता, जितना कि 'ये मेरे पिता हैं' बताने से हुआ। जैसी आशा थी, परिणाम भी वैसा ही हुआ। रोगी बनविहारी महाराज के पिता हैं – यह अफवाह कानो-कान एक सेवक से दूसरे सेवक तक पहुँच गयी और रोगी को उत्कृष्ट सुविधाएँ मिलने लगीं। वह शीघ्र ही पूर्ण स्वस्थ हो गया।

लगभग साठ वर्षों तक प्रतिदिन घण्टों खड़े रहकर मरहम-पट्टी करते रहने के कारण बनविहारी महाराज के घुटने अकड़ गये थे और वृद्धावस्था में वे उन्हें मोड़ या समेट नहीं पाते थे। जितने वर्षों तक सम्भव हुआ, वे पैदल चलकर अपने कमरे से अस्पताल के मरहम-पट्टी कक्ष तक जाते-आते रहे। इसमें असमर्थ हो जाने के बाद वे अपने लिए बनाई गई पहियेवाली एक ऊँची गाड़ी में बैठकर अस्पताल जाते और उसमें वे अपने पैरों तथा घुटनों को बिना मोड़े खुला रख सकते थे।

एक चमत्कार

इस समय जबकि हम रोगियों के घावों की मरहम-पट्टी से जुड़ी घटनाओं की याद कर रहे हैं, इस सन्दर्भ में आइए हम रामगति महाराज नामक एक अन्य संन्यासी के साथ हुई घटना का स्मरण करें। ये महाराज वेदान्त के एक प्रकाण्ड विद्वान् थे, जिन्होंने ब्रह्मसूत्र के शांकर-भाष्य का अपनी टिप्पणियों सहित बँगला में अनुवाद किया था। एक बार वे सेवाश्रम में रोगियों की शिवज्ञान से सेवा में नियुक्त किये गये थे।

इस सन्दर्भ में कुछ अन्य बातों का भी यहाँ उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। बेलूड़ मठ के अतिरिक्त रामकृष्ण संघ के तीन

प्राचीनतम केन्द्र थे – मायावती (हिमालय) का अद्वैत आश्रम, वाराणसी का रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम और मद्रास (चेन्नै) का रामकृष्ण मठ। एक ही बृहत् संगठन की शाखाएँ होने के बावजूद ये तीनों एक दूसरे से नितान्त भिन्न थीं। अद्वैत आश्रम की स्थापना बाह्य पूजा, क्रिया-अनुष्ठान आदि से रहित विशुद्ध अद्वैत-वेदान्त के अध्ययन और साधना के लिए हुई थी। वाराणसी का सेवाश्रम शिवज्ञान से जीवसेवा के लिए प्रारम्भ किया गया था और मद्रास के रामकृष्ण मठ में क्रिया-अनुष्ठान और बाह्य-पूजा का प्राधान्य था। एक सन्तुलित आध्यात्मिक विकास के लिए ये तीनों प्रकार की साधनाएँ आवश्यक हैं। उन दिनों यथासम्भव मिशन के सभी संन्यासियों को एक के बाद एक, इन तीनों केन्द्रों में नियुक्त किया जाता था, ताकि उनके व्यक्तित्व का सर्वांगीण एवं सन्तुलित विकास हो सके। रामगति महाराज भी इसके अपवाद नहीं थे। अद्वैत-वेदान्त के विद्वान् होते हुए भी उन्हें सेवाश्रम में भेजा गया, ताकि वे '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' के सिद्धान्त को मूर्त रूप दे सकें।

इन्हीं दिनों रामकृष्ण मिशन के महासचिव एवं श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग संन्यासी शिष्य स्वामी सारदानन्द जी किसी विशेष कार्य हेतु वाराणसी पधारे थे तथा सेवाश्रम में ही निवास कर रहे थे। एक दिन रामगति महाराज ने उनके समक्ष अपनी एक व्यावहारिक समस्या प्रस्तुत की। उन्होंने बताया कि 'शिवज्ञान से जीवसेवा' के लिए पूरे मन से तत्पर होने पर भी कभी कभी वे ऐसा नहीं कर पाते हैं। यथा – उन्हीं दिनों वार्ड में भर्ती एक रोगी के शरीर से ऐसी दुर्गन्ध निकलती है कि उसके निकट जाना ही सम्भव नहीं हो पाता है। ऐसी स्थिति में क्या किया जाय? उसके दुर्गन्धयुक्त घावों को कैसे साफ किया जाय?

स्वामी सारदानन्द जी ने सारी बातें ध्यानपूर्वक सुनी और थोड़ी देर तक शान्त-गम्भीर बने रहे। उसके बाद उन्होंने कहा – श्रीरामकृष्ण से प्रार्थना करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। दूसरे दिन एक चमत्कार घटा। जब रामगति महाराज सड़े-गले, दुर्गन्धयुक्त रोगी की परिचर्या के लिए उसके निकट गये, तो उन्हें किसी दुर्गन्ध का बोध नहीं हुआ। उसके बाद वे अबाध रूप से उस रोगी की परिचर्या करने में समर्थ हुए थे।

सेवाश्रम के गुप्त भंगी

ऐसे निष्ठावान संन्यासियों के लिए कोई भी कार्य निकृष्ट, उपेक्षणीय या हीन नहीं था। इतना ही नहीं, वे तो शौचालयों को साफ करना, वार्ड का झाड़ू लगाना आदि छोटे-मोटे कार्यों को करने में भी तत्पर रहते थे। इन्हें करने में मानो वे एक दूसरे से स्पर्धा करते थे। इस विषय में दो रोचक घटनाएँ हैं।

एक दिन प्रातःकाल जिस संन्यासी का कार्य शौचालय तथा रोगियों के मल-मूत्र के पात्र की सफाई करना था, वे वार्ड में आये, तो उन्होंने देखा कि किसी ने पहले ही आकर वह कार्य कर डाला है। कोई रोगी भी नहीं बता सका कि वह कार्य किसने किया है, क्योंकि उस भोर की बेला में सभी सो रहे थे। कुछ दिनों तक लगातार ऐसा ही होता रहा। तब इस कार्य में नियुक्त संन्यासी ने उस चुपचाप आकर सारा कार्य पूरा कर डालनेवाले चोर को पकड़ने की ठानी। एक दिन वे संन्यासी निर्धारित समय से बहुत पहले ही वार्ड में पहुँच कर एक स्थान में छिपकर बैठ गए। थोड़ी देर बाद उन्होंने देखा कि सेवाश्रम के मुख्य सचिव स्वयं ही आए और शौचालय की सफाई करने लगे। जब नियुक्त संन्यासी ने उन्हें 'रंगे हाथों पकड़ लिया', तब सचिव स्वामी ने उन्हें कारण बताते हुए कहा कि उनकी 'शिवज्ञान से जीवसेवा' करने की प्रबल इच्छा थी, इसी कारण उन्होंने ऐसा किया। दिन में सबके सामने तो कोई उन्हें यह कार्य करने ही न देता। इस पर उन युवा संन्यासी ने कहा कि जिस प्रकार वे इस स्थान की सफाई के द्वारा 'शिवज्ञान से जीवसेवा' कर रहे हैं, उसी प्रकार सचिव-स्वामी भी अपने कार्यालय में बैठकर 'शिवज्ञान से जीवसेवा' कर रहे हैं।

इसी प्रकार की एक और घटना सुनने में आती है, जिसमें प्रतिदिन बड़े सबेरे एक अज्ञात व्यक्ति कहीं बाहर से आकर शौचालय आदि की सफाई करके चुपचाप चला जाता था। जब संन्यासियो ने उसे पकड़कर उसका परिचय जानने का प्रयास किया, तो वह किसी तरह सबको चकमा देकर भाग गया और उसके बाद कभी भी सेवाश्रम में लौटकर नहीं आया। वह सदा के लिए अज्ञात ही बना रह गया।

रोगी जो सेवक बना

निश्चय ही, एक संक्रामक रोग की भाँति इस प्रकार की निष्ठापूर्ण सेवा का प्रभाव गैर-संन्यासी लोगो पर भी पड़ता था। संन्यासियों की सेवा के द्वारा प्रभावित होकर बहुत-से लोग जीवन्त, जाग्रत, रोगी-नारायणों की निष्ठापूर्ण सेवा के इस महायज्ञ में स्वेच्छा से योगदान करने को अग्रसर होते थे। उनमें एक व्यक्ति की सेवा विशेष उल्लेखनीय है, जो आया तो था एक रोगी के रूप में पर, संन्यासियों की सेवा से प्रभावित होकर स्वस्थ होने के बाद स्वयं एक सेवक बन गया। इसके बाद इस 'सेवक बने रोगी' को बड़ी माता (चेचक) के एक संक्रामक रोगी की सेवा का अवसर मिला। परम निष्ठापूर्वक की गई सेवा से वह चेचक का रोगी तो ठीक हो गया, पर इस सेवक को चेचक हो गई और अन्ततोगत्वा वह उसी के द्वारा काल-कवलित हुआ। उसने श्रीरामकृष्ण का नाम उच्चरित करते हुए अपना शरीर त्यागा। श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग संन्यासी शिष्य स्वामी शिवानन्द जी इस घटना से अत्यन्त प्रभावित तथा मर्माहत हुए थे और उस वीर सेवक को श्रद्धांजलि देते हुए उन्होने रामकृष्ण मिशन की बँगला पत्रिका 'उद्बोधन' में इस महान् बलिदान के विषय में एक लेख भी लिखा था।

कृषक संन्यासी

वाराणसी का सेवाश्रम १३ एकड़ के क्षेत्र में फैला हुआ है। अब तो उसमें अनेक भवनों का निर्माण हो चुका है, अत: रिक्त स्थान कम ही बचा है। पर पहले के दिनों में इसके रिक्त स्थानों में खेती करके शाक-सब्जियाँ उगाई जाती थी और उनका उपयोग रोगी-नारायण की सेवा में होता था। इस कार्य में एक संन्यासी नियुक्त थे। वे अन्य मजदूरों के साथ स्वयं भी खेतों में कार्य करते। गर्मी के दिनों में सिर पर फेटा-सा बाँधे खेतों में कार्य करते वे प्राय: ही दीख पड़ते। एक दिन किसी ने उनसे पूछा, "स्वामीजी, गीतापाठ, ध्यान-जप आदि छोड़कर आप यह कार्य क्यों कर रहे हैं? संसार और सांसारिक कार्यों को त्यागकर संन्यासी होने से, अब तो आपको खेती की जगह धार्मिक कर्म करने चाहिए। वृद्ध संन्यासी बोले उठे, "क्यों? जो कुछ यहाँ उगेगा, उसे रोगी-नारायण ही तो खाएँगे?" उनके मन में, उस कर्म के विषय में कोई दुविधा नहीं थी। वह कोई लौकिक कार्य नहीं, अपितु आध्यात्मिक साधना ही थी।

कर्म ही उपासना है

श्रीरामकृष्ण का उपदेश है – 'शिवज्ञान से जीवसेवा'। प्रत्येक प्राणी परमात्मा ही है और उसकी सेवा परमात्मा की उपासना है। वाराणसी का सेवाश्रम इसी सिद्धान्त पर आधारित है। स्वामी विवेकानन्द ने भी अपने व्याख्यानों और उपदेशों में बारम्बार इस सिद्धान्त की पुष्टि की और इस पर विशेष बल दिया था। यही कारण है कि जब सन् १९०२ ई. में स्वामी विवेकानन्द अन्तिम बार वाराणसी पधारे, तब अपने उपदेशों के अनुरूप वहाँ सेवाश्रम स्थापित करके सेवा-कार्य आरम्भ कर देनेवाले इन युवकों की गतिविधियों पर वे बड़े प्रसन्न हुए। स्वामी विवेकानन्द ने ब्रह्मानन्द जी को निर्देश दिया कि वे सेवाश्रम के युवा कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहित करते रहें। पहले संस्था का नाम था, "Poor Men's Relief Association" अर्थात् "निर्धन-त्राण-समिति"। स्वामीजी उन्हें समझाते हुए बोले, "तुम त्राण करनेवाले कौन हो? तुम केवल सेवा कर सकते हो। त्राण करने का अहंकार सर्वनाश का कारण होता है। दूसरों को स्वयं से हीन और निम्न समझना बड़े घमण्ड की बात है। 'दया नहीं, बल्कि सेवा'। तुम्हारा मार्ग-दर्शक सिद्धान्त होना चाहिए – 'मानव की, परमात्मा की प्रतिमूर्ति मानव की सेवा'।" उन्होंने संस्था का नाम बदलकर "Ramakrishna Home of Service" – "रामकृष्ण सेवाश्रम" कर दिया।

उस प्रारम्भिक काल से ही स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी तुरीयानन्द, स्वामी आत्मानन्द, स्वामी अचलानन्द आदि आध्यात्मिक दिग्गज आपात दृष्टि से लौकिक प्रतीत होनेवाली सेवा की गतिविधियों को आध्यात्मिक दिशा प्रदान करने में सतत प्रयत्नशील रहे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी जब भी वाराणसी आते, तो सदा इस बात पर बल देते रहते कि प्रत्येक कर्मी को सेवा के साथ-ही-साथ नियमित रूप से जप-ध्यान आदि भी करते रहना चाहिए। वे हर कार्यकर्ता की आध्यात्मिक विकास में व्यक्तिगत रुचि लेकर प्रत्येक को उसके भाव के अनुरूप विशेष आध्यात्मिक निर्देश दिया करते थे। इसके बाद स्वामी तुरीयानन्द जी ने सेवाश्रम में कई वर्षों तक निवास किया था तथा अपने व्यक्तित्व, उपदेशों तथा वार्तालापों के द्वारा सेवाश्रम के कार्यकर्ताओं के मन को सदा उच्चतर स्तर पर बनाए रखते थे। उनकी महासमाधि के उपरान्त स्वामी विवेकानन्द के एक तपस्वी, ध्याननिष्ठ शिष्य, स्वामी आत्मानन्द जी को इस सेवाश्रम में रहने को भेजा गया, ताकि सेवाश्रम के कार्यकर्ता उनसे ईश्वर-केन्द्रित जीवन जीने की प्रेरणा प्राप्त कर सकें। कर्म के साथ-ही-साथ ध्यान, जप, स्वाध्याय जैसी परम्परागत साधनाओं के बिना सेवा-कर्म को उपासना में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता। आइए, अब हम सेवा को उपासना में परिणत करने के कुछ उपायों तथा प्रयासों का अनुशीलन करें।

सेवा करते समय सम्भव है कि हम यह भूल जाएँ कि जिस व्यक्ति की हम सेवा कर रहे हैं, वह नारायण है। इसे याद रखने के लिए इसका बार बार स्मरण दिलाना आवश्यक है। स्वामी विवेकानन्द के एक शिष्य, इस सेवाश्रम के संस्थापकों में से एक तथा परवर्ती काल में रामकृष्ण संघ के सह-अध्यक्ष स्वामी अचलानन्द जी ने कई वर्षों तक सेवाश्रम में निवास किया था। वे 'रोगी' शब्द का तो प्रयोग ही नहीं करते थे। इसके बदले वे पूछा करते, "आज कितने नारायण भर्ती हुए? आज कितने नारायणों की छुट्टी हुई?" वे 'रोगी' शब्द के प्रयोग से अप्रसन्न ही होते थे। सारे सेवाश्रम का माहौल और व्यवस्था ऐसी थी, जिसमे सदा इस भाव की याद दिलाई जा सके। मानो वह एक मन्दिर हो। रोगी-नारायण के निवास के वार्डों के अतिरिक्त सेवाश्रम में अलग से कोई मन्दिर नहीं है। जिस रसोईघर में रोगी-नारायण के लिए भोजन पकता है, उसका नाम 'नारायण भण्डार' है। भोजन पहले प्रात: लगभग दस बजे रोगी-नारायण को परोसा जाता है। उसके बाद वही भोजन संन्यासी एवं गैर-संन्यासी – दोनों ही प्रकार के कर्मियों को परोसा जाता है। पहले रोगी-नारायण को भोग लगाने के कारण भोजन प्रसाद में परिणत हो जाता है – इस प्रक्रिया के पीछे यही भाव है।

सेवाश्रम की आर्थिक स्थिति प्रारम्भ से ही विशेष अच्छी नहीं रहती थी। लेकिन माँ अन्नपूर्णा की कृपा से सेवाश्रम में कभी भी मोटे अन्न-वस्त्र तथा जीवन-निर्वाह की सामग्रियों का अभाव नहीं हुआ। सेवा पूर्णरूपेण नि:शुल्क थी और संस्था चन्दे तथा दान पर ही निर्भर थी। ऐसे में स्वाभाविक रूप से ही यदा-कदा कठिन आर्थिक कठिनाइयाँ पैदा हो जाती थी। ऐसे अवसरों पर संन्यासी और गैर-संन्यासी कार्यकर्ता एकत्र

होकर आत्म-निरीक्षण करते थे और यह जानने की चेष्टा करते थे कि यह आर्थिक संकट क्यों पैदा हुआ? क्योंकि उन्हें पूर्ण विश्वास था कि यदि सेवाएँ पूर्णत: नि:स्वार्थ एवं निष्ठायुक्त मन-प्राण से की गईं, तो कभी आर्थिक समस्या का सामना नहीं करना होगा। व्यक्तिगत तथा सामूहिक आत्म-निरीक्षण के बाद त्रुटि-मार्जन के उपरान्त प्राय: देखने में आता कि धन अपने आप ही आने लगा है और आर्थिक समस्या हल हो चुकी है। एक समय ऐसा भी था, जब संन्यासी दिन में रोगी-नारायणों की सेवा करने के बाद उदर-पूर्ति हेतु मधुकरी भिक्षा के लिए जाते थे। बाहर कहीं से साधु-भण्डारे का आमंत्रण मिलने सभी साधुओं को अनिवार्य रूप से उसमें जाना पड़ता था, क्योंकि इससे सेवाश्रम में भोजन की बचत होती थी।

उपसंहार

वाराणसी सेवाश्रम के इस संक्षिप्त वृतान्त का उपसंहार अब हम कनखल के सेवाश्रम में घटी एक घटना से करेंगे। स्वामी विवेकानन्द जी की प्रेरणा से उनके एक शिष्य स्वामी कल्याणानन्द जी द्वारा इसे प्रारम्भ किया गया था। एक नि:सम्बल परिव्राजक के रूप में भ्रमण करते समय स्वामीजी ने स्वयं ही हरिद्वार तथा ऋषिकेश में रहकर तपस्या करनेवाले संन्यासियों की दुरवस्था का अनुभव किया था। अत: उन्होंने कल्याणानन्द जी को उन संन्यासियों की सेवा करने का आदेश दिया। कल्याणानन्द जी ने कनखल में एक छोटा-सा चिकित्सालय शुरू किया और अपने एक गुरुभाई स्वामी निश्चयानन्द के साथ मिलकर दोनों तीर्थक्षेत्रों तथा आसपास के पीड़ित तथा रोगी संन्यासियों की ही नहीं, अपितु निर्धन एवं अस्पृश्य शूद्र लोगों की भी यथासाध्य सेवा करने लगे। इसके परिणाम-स्वरूप एक ओर तो वे रूढ़िवादी हिन्दू-साधुओं द्वारा निन्दित होकर भंगी-साधु कहलाने लगे तथा साधु-समाज से लगभग बहिष्कृत हो गये, वहीं दूसरी ओर कुछ अन्य संन्यासियों की दृष्टि में वे परम आदर तथा सम्मान के पात्र बन गये। इन दूसरे प्रकार के संन्यासियों में कैलाश आश्रम के महामण्डलेश्वर स्वामी धनराज गिरि प्रमुख थे। एक बार एक साधु-भण्डारे में स्वामी कल्याणानन्द तथा स्वामी निश्चयानन्द को आमंत्रित नहीं किया गया था। जब मुख्य अतिथि, महामण्डलेश्वर स्वामी धनराज गिरी जी को यह ज्ञात हुआ, तो उन्होंने रूढ़िवादी साधु-समुदाय को डाँटते हुए कहा कि न बुलाए गए वे दो संन्यासी ही वस्तुत: वेदोक्त **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** – अर्थात् 'सभी ब्रह्म है' के सिद्धान्त को कार्य में परिणत करने की साधना कर रहे हैं और जब तक उन्हें आमंत्रित तथा सम्मानित नहीं किया जाता, तब तक वे स्वयं भी कार्यक्रम में योगदान नहीं करेंगे। इस घटना से संन्यासी समुदाय की आँखें खुलीं और रामकृष्ण मिशन के संन्यासियों के प्रति उनका विरोध-भाव दूर हुआ। ❑❑❑
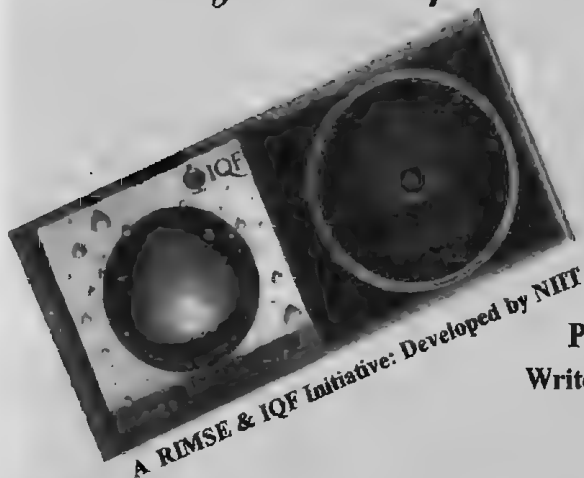
(विवेक-ज़्योति के प्रारम्भिक वर्षों में प्रकाशित पाठकों के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

५६. प्रश्न – आज की विषम परिस्थिति में भारतीय नारी का क्या स्वरूप और उत्तरदायित्व होना चाहिए?

उत्तर – विश्व में सामान्य दृष्टि में जड़ और चेतन ऐसी दो श्रेणियाँ दिखाई पड़ती हैं। जिस समय समाज के अधिकांश लोग जड़ में ही अपनी आस्था केन्द्रित कर, उसी को सर्वस्व समझने लगते हैं, तो उनके लिए शरीर पूजनीय हो जाता है। ऐसी अवस्था विषम परिस्थिति को जन्म देती है। आज लोग शरीर-प्रधान हो गए हैं और चैतन्य के अस्तित्व को देखते हुए भी उसे भुलाए बैठे हैं। इस कारण मनुष्य स्वार्थी तथा लोभी हो गया है और इन्द्रिय-सन्तुष्टि को ही सब कुछ समझ बैठा है।

जैसे पुरुष आज के वातावरण का शिकार हुआ है, उसी प्रकार ही नारी भी इस हवा से अछूती नहीं है। बल्कि कई क्षेत्रों में तो देखने में आया है कि स्वतंत्रता तथा पुरुष से समानता के नाम पर नारी कुछ अधिक ही स्वच्छन्द हो गई है। और इसके परिणाम भी स्पष्ट हैं। अमेरिका तथा यूरोप के विभिन्न देशों में 'परिवार' नामक संस्था के टूटने का एकमात्र कारण यही है। धीरे धीरे अपने देश में भी यह दूषित हवा प्रवेश करती जा रही है और प्रभावित परिवारों को तोड़ती जा रही है।

भारत में नारी सदा पूजनीया रही है। जबकि भारतेतर देश उसके रमणी-रूप के उपासक रहे हैं, भारत ने उसके जननी-रूप को ही गौरव प्रदान किया है और माता को परिवार के शीर्षस्थान पर बिठाया है। भारत की आध्यात्मिकता ही इसका कारण रही है। अन्य देशों की संस्कृति नारी को भोग्या समझती है, जबकि भारत को शिक्षा मिली है कि वह नारी के मातृत्व को सम्मानित करे। आज पश्चिमी हवा के झोंके में हमारे ये सनातन आदर्श उड़कर बिखरते जा रहे हैं। तथापि आज भी भारत की नारी में तेजस्विता है, उसमें ललक है और ऐसी चिनगारी है जो समय पाकर दावानल के रूप में भभक उठे। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि यदि भारत की नारी अपने देश की सनातन संस्कृति से परिचित हो जाती है और देश को उठाने का निश्चय कर लेती है, तो देश पुन: एक बार गौरव के शिखर पर पहुँच जाएगा। भारत की नारी अपने पति के लिए हाड़ा तथा सावित्री बने और अपने पुत्रों के लिए मदालसा तथा सुमित्रा बने। वह आधुनिक शिक्षा में शिक्षित तो हो, पर आधुनिका न बनकर भारत के नारी-आदर्श की जीती-जागती प्रतिमा बने। वर्तमान युग में माँ श्री सारदा और भगिनी निवेदिता – एक ऐसा युगल जीवन है, जो हमारे मन में उठनेवाली शंकाओं का समाधान कर देता है। यह युगल जीवन पूर्व और पश्चिम का मिलन है। यह मिलन भारत के कल्याण के लिए है और भारतीय नारी के समक्ष एक अपूर्व आदर्श रखता है। इस मिलन में ही भारतीय नारी का वांछित स्वरूप निहित है। इस युग्म-जीवन के मिलन में उसका उत्तरदायित्व भी मुखर हो उठा है।

५७. प्रश्न – धर्म-ग्रन्थों में लिखा है और साधु-सन्त अपने प्रवचनों में भी कहते हैं कि ईश्वर-प्राप्ति ही मानव-जीवन का उद्देश्य है। फिर कहते हैं कि ईश्वर को इन्द्रियों तथा मन से नहीं देखा जा सकता। इसका क्या अर्थ है? क्या ईश्वर-दर्शन एक अन्धविश्वासपूर्ण अर्थहीन शब्द नहीं है?

उत्तर – यह बात तो अवश्य आपको समझ में आती होगी कि मनुष्य, शरीर और मन की युति (body-mind-complex) है, क्योंकि शरीर का इन्द्रियों के द्वारा अनुभव होता है और मन का विचार के द्वारा। फिर आप यह भी अवश्य मानते होगे कि जैसे मन सतत परिवर्तनशील है, वैसे ही देह भी नित्य परिवर्तित हो रही है। आज चिकित्सक लोग यह भी बतलाते हैं कि देह में जो सतत परिवर्तन की क्रिया चली हुई है, वह हमें आँखों से भले नहीं दिखायी देती हो, तथापि १२ वर्षों में देह के सारे परमाणु बदल जाते हैं। मन एक सतत बहनेवाला प्रवाह है, यह तो साफ दिखायी देता है।

अब, यदि देह और मन हर क्षण परिवर्तनशील हों, तो इस परिवर्तन के ज्ञाता देह और मन तो नही हो सकते। नदी के प्रवाह के सतत परिवर्तन का ज्ञाता कौन है? प्रवाह स्वयं अपने परिवर्तन का ज्ञाता नही हो सकता। नदी के दो कूल ही इस परिवर्तन के साक्षी और ज्ञाता हैं। ठीक इसी तर्क का अनुसरण करते हुए यह कहा जा सकता है कि देह और मन के परिवर्तन का अनुभव करनेवाला, देह और मन से भिन्न एक ऐसा तीसरा तत्त्व है जिसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नही और जो देह-मन का साक्षी है। इसी तीसरे तत्त्व को हम ईश्वर के नाम से पुकारते है और वही हमारा वास्तविक स्वरूप है।

वही देह और मन में होनेवाले समस्त परिवर्तनों का हमें अनुभव कराता है और उन परिवर्तनों के बीच एकसूत्रता कायम करता है। जैसे, सिनेमा में पीछे की ओर फिल्म बड़ी तेजी से भाग रही है और उसकी सम्बद्धता तभी मालूम पड़ती है, जब सामने एक स्थिर परदा हो। यदि परदे को भी गति दे दें, तो फिल्म की सम्बद्धता नष्ट हो जाएगी और उसका अर्थ हमारी समझ में न आएगा। इसी प्रकार, भागनेवाले देह और मन के पीछे यदि यह शाश्वत स्थिर तत्त्व – ईश्वर न हो, तो इस भाग-दौड़ तथा अटूट परिवर्तन-शृंखला का कोई तात्पर्य समझ में नहीं आएगा। तो, इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वर है और वही हमारी क्रियाओं तथा विचारों को अर्थ प्रदान करता है। उसी के कारण क्रियाओं तथा विचारों में पूर्वापर-सम्बन्ध सिद्ध होते हैं।

अत: ईश्वर-दर्शन का तात्पर्य हुआ – अपने यथार्थ स्वरूप का बोध। यह बोध मन और इन्द्रियों का विषय नहीं है। जैसे जब तक नदी के तट की उसके प्रवाह के साथ एकरूपता है, तब तक हमें तट का बोध होना सम्भव नहीं; प्रवाह से अलग होकर ही, यानी तट पर खड़े होकर ही तट-बोध हो सकता है, इसी प्रकार देह और मन से अलग होने पर ही यह ईश्वर-बोध होता है। देह और मन से एकरूप रहते यह ईश्वर-बोध सम्भव नहीं होता। इसी अर्थ में कहा गया है कि ईश्वर को इन्द्रियों तथा मन से नहीं देखा जा सकता।

इस पर प्रश्न किया जा सकता है कि इस प्रकार से ईश्वर-दर्शन भी क्या सम्भव है? उत्तर है – हाँ। उस दर्शन की विधि सांसारिक ज्ञान-प्रक्रिया से पूर्णत: भिन्न है और इस विधि को ही 'योग' का नाम दिया गया है। यह ईश्वर-दर्शन की अवस्था अद्वैत की अवस्था है और यही इस जीवन का शाश्वत और एकमात्र प्रयोजन है, क्योंकि इस अनुभूति से मनुष्य अपने को देह तथा मन से विलग जानकर, उन दोनों का स्वामी हो जाता है। यही मुक्ति की अवस्था है।

५८. प्रश्न – आत्मा का क्या प्रमाण है? यदि हम यह मान लें कि जड़ तत्त्वों के सम्मिलन से ही चेतन की उत्पत्ति हो जाती है और शरीर के नष्ट होने पर चेतन भी लुप्त हो जाता है और इसके बाद उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता, तो इसके विरोध में क्या तर्क है?

उत्तर – आत्मा स्वसंवेद्य है, अत: स्वसंवेद्यता ही उसका प्रमाण है। जड़ पदार्थ स्वसंवेद्य नहीं हैं। संवेदना प्राप्त करने के लिए उसे स्वयं से भिन्न एक चेतन तत्त्व की आवश्यकता है। यह चेतन-तत्त्व जड़-तत्त्व से भिन्न है। और ये दोनों-के-दोनों उसकी अभिव्यक्तियाँ हैं, जिसे हम आत्मा के नाम से जानते हैं। गीता में इस आत्मा का 'पुरुषोत्तम' नाम से उल्लेख किया गया है और जड़ तथा चेतन तत्त्वों को अपरा तथा परा प्रकृति का नाम दिया गया है। यह चेतन, जड़ में अविच्छिन्न रूप से भिदा है और उसमें अनुस्यूत है। उपयुक्त परिस्थितियाँ प्राप्त होने पर यह चेतन प्रकट हो जाता है और परिस्थितियों के नष्ट होने पर उसकी अभिव्यक्ति बन्द हो जाती है। जैसे, चन्दन और उससे व्याप्त सुगन्ध अथवा काठ और उसमें व्याप्त अग्नि।

जड़ की दो श्रेणियाँ हैं – स्थूल और सूक्ष्म। शरीर स्थूल जड़ है और मन सूक्ष्म जड़। यह चेतना इन दोनों में अनुस्यूत और व्याप्त होकर स्थित है। जहाँ भी जड़ तत्त्वों के सम्मिलन से उपयुक्त वातावरण (conditions) बनता है, वहाँ जड़ तत्त्वों में पहले से ही अदृश्य रूप से विद्यमान चेतन प्रकाशित हो उठता है। अभी यह चेतन शरीर के माध्यम से प्रकाशित है। शरीर के नष्ट होने पर वह सूक्ष्म शरीर यानी मन के माध्यम से प्रकाशित होगा और उसे एक योनि से दूसरी योनि में ले जाएगा। पुन: नया शरीर प्राप्त होने पर, चेतन उस नये शरीर के माध्यम से प्रकाशित होगा।

पर जब मुक्ति की अवस्था आती है तो शरीर के नाश के बाद मन भी नष्ट हो जाता है। तब उसमें व्याप्त चैतन्य आत्मा में ही समाहित हो जाता है। जैसे, दर्पण के फूट जाने पर प्रतिबिम्ब बिम्ब में ही लीन हो जाता है।

उदाहरण के लिए – पावर-हाउस, तार और बल्ब का दृष्टान्त लें। पावर हाउस की उपमा आत्मा से दें, तार की मन से, बल्ब की शरीर से तथा बिजली की उपमा चैतन्य से। बल्ब फूटने पर बिजली कहाँ जाती है? – तार में। और तार के टूटने पर वह कहाँ जाती है? – पावर हाउस में। इसी प्रकार शरीर के नष्ट होने पर चैतन्य मन में रहता है और मन के नष्ट होने पर आत्मा में विलीन हो जाता है।

जो सूक्ष्म दृष्टिसम्पन्न नहीं हैं, ऐसे सामान्य लोगों के लिए यही कहा जा सकता है कि शरीर के नष्ट होने पर 'चैतन्य' मन के यानी सूक्ष्म शरीर के स्तर पर क्रियाशील हो जाता है। प्रश्न में जो बात कही गई है वह ऊपरी दृष्टि से तो सत्य प्रतीत होती है, पर वह स्थूल दृष्टि है और तत्त्व की दृष्टि से असत्य है।

❖ **(क्रमश:)** ❖

श्री सदानन्द योगीन्द्र कृत

निर्विकल्प समाधि के अन्तरंग साधन

अस्य अङ्गानि यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधय: ।।२००।।

– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा (सविकल्प) समाधि – ये इस (निर्विकल्प) समाधि के अंग हैं।

तत्र 'अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहा यमा:' ।।२०१।।

– इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (ग्रहण न करना) – ये 'यम' कहलाते हैं।

'शौच-सन्तोष-तप:-स्वाध्याय-ईश्वर-प्रणिधानानि' नियमा: ।।२०२।।

– शौच (देह-मन की स्वच्छता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय, तथा ईश्वर की उपासना – ये 'नियम' कहलाते हैं।

कर-चरणादि-संस्थानविशेष-लक्षणानि पद्म-स्वस्तिकादीनि आसनानि ।।२०३।।

– हाथ-पाँव आदि (अंगों) को विशिष्ट प्रकार से रखना, जैसे पद्म, स्वास्तिक आदि – 'आसन' कहलाते हैं।

रेचक-पूरक-कुम्भक-लक्षणा: प्राण-निग्रह-उपाया: प्राणायामा: ।।२०४।।

– रेचक, पूरक, कुम्भक के रूप में प्राण (वायु) के निग्रह (वश में लाने) के उपाया को 'प्राणायाम' कहते हैं।

इन्द्रियाणां स्व-स्व-विषयेभ्य: प्रत्याहरणं प्रत्याहार: ।।२०५।।

– ज्ञानेन्द्रियों को अपने अपने विषयों से वापस खीचने को 'प्रत्याहार' कहते हैं।

अद्वितीय-वस्तुनि अन्त:-इन्द्रिय-धारणं धारणा ।।२०६।।

– अन्त: इन्द्रिय अर्थात् मन को अद्वय (ब्रह्म) वस्तु में लगाना 'धारणा' है।

तत्र अद्वितीय-वस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्य अन्त:-इन्द्रिय-वृत्ति-प्रवाहो ध्यानम् ।।२०७।।

– मन की वृत्तियों का विच्छित्र भाव से (रुक रुक कर) अद्वय (ब्रह्म) वस्तु मे प्रवाहित होना 'ध्यान' कहलाता है।

समाधि: तु उक्त: सविकल्पक एव ।।२०८।।

– पूर्वोक्त सविकल्प अवस्था को 'समाधि' कहते हैं। (समाधि पहले ही सविकल्प के रूप में वर्णित हो चुकी है।)

समाधि में बाधाएँ व उनका निराकरण

एवम् अस्य अङ्गिन: निर्विकल्पकस्य लय-विक्षेप-कषाय-रसास्वाद-लक्षणा: चत्वार: विघ्ना: सम्भवन्ति ।।२०९।।

– इस प्रकार (आठ) अंगोंवाले निर्विकल्प (समाधि) की उपलब्धि में – लय, विक्षेप, कषाय तथा रसास्वाद के रूप में चार (प्रकार की) 'बाधाएँ' आ सकती है।

लय: तावत् अखण्ड-वस्तु-अनवलम्बनेन चित्तवृत्ते: निद्रा ।।२१०।।

– इनमें से चित्तवृत्ति का अखण्ड (ब्रह्म) वस्तु का आश्रय लेने में असमर्थ होकर निद्रावस्था में डूब जाना-'लय' कहलाता है।

अखण्ड-वस्तु-अनवलम्बनेन चित्तवृत्ते: अन्य अवलम्बनं विक्षेप: ।।२११।।

– चित्तवृत्ति का अखण्ड (ब्रह्म) वस्तु को छोड़कर अन्य (विषय) का आश्रय लेना – 'विक्षेप' कहलाता है।

लय-विक्षेप-अभावे अपि चित्तवृत्ते: राग-आदि-वासनया स्तब्धीभावाद् अखण्ड-वस्तु-अनवलम्बनं कषाय: ।।२१२।।

– लय तथा विक्षेप के न रहने पर भी, राग (आसक्ति) आदि वासनाओ (संस्कारों) से चित्तवृत्ति का स्तब्ध होकर अखण्ड (ब्रह्म) वस्तु का आश्रय न लेना – 'कषाय' (कसेलापन) कहलाता है।

अखण्ड-वस्तु-अनवलम्बनेन अपि चित्तवृत्ते: सविकल्पक-आनन्द-आस्वादनं रसास्वाद:। समाधि-आरम्भ-समये सविकल्पक-आनन्द-आस्वादनं वा ।।२१३।।

– चित्तवृत्ति का अखण्ड (ब्रह्म) वस्तु का आश्रय लिए बिना ही सविकल्प समाधि का आनन्द लेना अथवा निर्विकल्प समाधि आरम्भ होने पर भी सविकल्प का आनन्द लेते रहना – 'रसास्वाद' कहलाता है।

अनेन विघ्न-चतुष्टयेन विरहितं चित्तं निर्वात-दीपवत् अचलं सत् अखण्ड-चैतन्य-मात्रम् अवतिष्ठते यदा तदा निर्विकल्पक: समाधि: इति उच्यते ।।२१४।।

– चित्त जब उपरोक्त चार प्रकार के विघ्नों से मुक्त होकर,

वायुरहित स्थान में रखे दीपक के समान अचल (स्थिर) होकर, केवल अखण्ड चैतन्य में ही अवस्थित होता है, तब उसे 'निर्विकल्प समाधि' कहते हैं।

यदुक्तं - 'लये सम्बोधयेत् चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः । सकषायं विजानीयात् समप्राप्तं न चालयेत् ।। न आस्वादयेद् रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।' इति च (गौड़पादकारिका ३/४४-४५) 'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।' इति च (गीता ६/१९) ।।२१५।।

– कहा भी गया है – "चित्त को लय के समय जगाना चाहिए, विक्षिप्त हो जाने पर शान्त करना चाहिए, कषाय (आसक्त) हो जाने पर उसे समझाना चाहिए तथा उस शान्त हुए को चंचल (विचलित) होने से रोकना चाहिए। और सविकल्प में रसास्वादन न करते हुए, विवेक के द्वारा निःसंग हो जाना चाहिए।" (गौड़पाद-कारिका)। तथा – "जैसे वायुरहित स्थान में दीप की लौ हिलती-डुलती नहीं, उसी से (योगी के समाहित चित्त की) उपमा दी गई है।" गीता।

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण की वाणी

जीव का सच्चा स्वरूप

'एक' की संख्या के बाद शून्य लगाते हुए चाहे जितनी बड़ी संख्या पाई जा सकती है, पर यदि उस 'एक' को मिटा दिया जाए, तो शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता। वैसे ही जब तक जीव उस 'एक'-स्वरूप ईश्वर के साथ युक्त नहीं होता' तब तक उसकी कोई कीमत नहीं होती, क्योंकि जगत् की सभी वस्तुओं को ईश्वर के साथ सम्बन्ध होने पर ही मूल्य प्राप्त होता है। जब तक जीव जगत् के पीछे स्थित उस मूल्य-प्रदान करनेवाले ईश्वर के साथ जुड़कर उन्हीं के लिए कार्य करता है, तब तक उसे अधिकाधिक श्रेय प्राप्त होता रहता है, परन्तु इसके विपरीत जब वह ईश्वर की उपेक्षा करते हुए अपने स्वयं के गौरव के लिए बड़े बड़े कार्य सिद्ध करने में जुट जाता है, तब उसे कोई लाभ नहीं मिलता।

ईश्वर और जीव का बहुत ही निकट का सम्बन्ध है – जैसे लोहे और चुम्बक का। पर ईश्वर जीव को आकर्षित क्यों नहीं करता? जैसे लोहे पर बहुत अधिक कीचड़ लिपटा हो, तो वह चुम्बक के द्वारा आकर्षित्त नहीं होता, वैसे ही जीव मायारूपी कीचड़ में अत्यधिक लिपटा हो, तो उस पर ईश्वर के आकर्षण का असर नही होता। फिर जैसे कीचड़ को जल से धो लेने पर लोहा चुम्बक की ओर खिंचने लगता है, वैसे ही जब जीव सतत प्रार्थना और पश्चात्ताप के आँसुओं से इस संसार-बन्धन में डालनेवाली माया के कीचड़ को धो डालता है, तब वह तेजी से ईश्वर की ओर खिंचता जाता है।

जीवात्मा और परमात्मा का योग किस प्रकार का होता है? यह वैसा ही है जैसे घड़ी की छोटी सूई और बड़ी सूई। घण्टे में एक बार दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। जीवात्मा और परमात्मा दोनों परस्पर-सम्बद्ध तथा परस्पर-आश्रित हैं। यद्यपि आपात् दृष्टि से दोनो अलग प्रतीत होते है, तथापि अनुकूल अवस्था के प्राप्त होते ही वे युक्त होकर एक हो जाते हैं।

जिस प्रकार तेल न हो तो दीप नहीं जल सकता, उसी प्रकार ईश्वर न हों तो मनुष्य जी नहीं सकता।

जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध कैसा है? जैसे जल-प्रवाह के बीच एक पटिया अड़ा देने से जल के दो भाग हो जाते हैं, वैसे ही एक अखण्ड परमात्मा माया की उपाधि के कारण जीवात्मा और परमात्मा के रूप में द्विधा-विभक्त हुआ-सा प्रतीत होता है।

पानी और बुलबुला वस्तुतः एक ही हैं। बुलबुला पानी में ही उत्पन्न होता है, पानी में ही रहता है और अन्त में पानी में ही समा जाता है। उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं। उनमें अन्तर केवल उपाधि के तारतम्य का है – एक सान्त-सीमित है तो दूसरा अनन्त-असीम; एक आश्रित है तो दूसरा स्वतंत्र। जीव के पृथक् अस्तित्व की कल्पना वैसी ही है, जैसे कोई गंगा का कुछ भाग घेर ले और कहे कि यह हमारी निजी गंगा है।

ईश्वर अनन्त है और जीव सान्त। भला सान्त जीव अनन्त ईश्वर की धारणा कैसे कर सकता है? यह तो मानो नमक के पुतले का समुद्र की गहराई नापने का-सा प्रयास है। नमक का पुतला समुद्र की गहराई की थाह लेने को ज्योंही पानी में उतरा, त्योंही उसी में घुलकर विलीन हो गया, वैसे ही जीव भी ईश्वर की थाह लेने, उन्हें जानने जाकर अपनी पृथक् सत्ता खो बैठता है और ईश्वर के साथ एकरूप हो जाता है।

ईश्वर स्वयं ही मनुष्य के रूप में लीला करते हैं। वे बड़े जादूगर हैं – यह जीव-जगत्-रूपी इन्द्रजाल उन्ही के जादू का खेल है। केवल जादूगर ही सत्य है और जादू मिथ्या।

जैसे पारे के सरोवर में यदि एक सीसे का टुकड़ा छोड़ दिया जाए, तो वह भी पारा बन जाता है। वैसे ही ब्रह्मसागर में मग्न होकर जीव अपने सीमित अस्तित्व को खोकर ब्रह्म-रूप हो जाता है। ❑❑❑
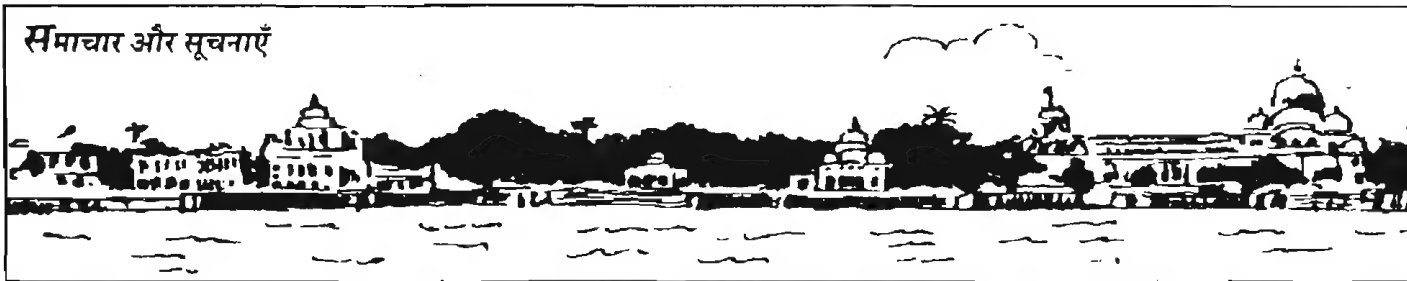
वाराणसी में स्थित श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम की शताब्दी

परम पुनीत काशीधाम में स्थित 'श्रीरामकृष्ण-अद्वैताश्रम' के सौ वर्ष पूरे हुए। विगत ४ जुलाई से ७ जुलाई के दौरान इस आश्रम की शताब्दी समारोह का प्रारम्भिक प्रथम चरण सम्पन्न हुआ।

इसकी स्थापना ४ जुलाई, १९०२ ई. को हुई थी। स्वामी विवेकानन्द की हार्दिक इच्छा थी कि काशी में वेदान्त-प्रचार के लिए एक केन्द्र की स्थापना हो। उन्हीं के शुभ संकल्प को रूपायित करने हेतु स्वामी शिवानन्द जी ने इसे आरम्भ किया। काशी के लक्सा मुहल्ले में 'खजाची के बगीचे' के नाम से परिचित एक उद्यान में स्थित एक पुराने भवन में आश्रम का श्रीगणेश हुआ था। अगले दिन ही स्वामीजी की महासमाधि की सूचना पाकर शिवानन्द जी शोकमग्न हो गये। कुछ दिन बाद रथयात्रा के शुभ दिन भगवान श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी के चित्रों को एक साथ रखकर विधिवत् पूजा, होम आदि के साथ स्थापनानुष्ठान सम्पन्न हुआ। शिवानन्द जी ने ही इसका नाम 'रामकृष्ण अद्वैत आश्रम' रखा था। वस्तुतः इसकी स्थापना 'रामकृष्ण-वेदान्त-प्रचार' तथा गहन आध्यात्मिक साधना के निमित्त की गई थी। शिवानन्द जी कहते थे, "पूरा काशीक्षेत्र ही शिवजी का शरीर है। हम लोग शिवजी के बीच निवास कर रहे हैं। यह महाश्मशान है। यहाँ थोड़ा प्रयास करने से जप-ध्यान जम जाता है।" ब्रह्मानन्द जी कहते, "काशी परम चैतन्यमय स्थान है। यहाँ भजन करने से मंत्र शीघ्र चैतन्य हो जाता है। काशी मुक्तिक्षेत्र है। यहाँ बाबा विश्वनाथ अयाचित भाव से जीवों को मुक्ति दे रहे हैं। सभी मुक्त हो जाएँगे। जैसे-तैसे यहाँ पड़े रहने से ही होगा।" काशी में स्थित इस अद्वैत आश्रम के साथ रामकृष्ण संघ के प्रारम्भिक दिनों की ढेर सारी पुनीत स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं। स्थापना के अल्प अवधि में ही ठाकुर के अन्तरंग शिष्यों में स्वामी ब्रह्मानन्द, सारदानन्द, तुरीयानन्द तथा प्रेमानन्द यहाँ पधारे; कुछ काल बाद माँ सारदा देवी का भी पदार्पण हुआ। फिर स्वामी अद्भुतानन्द तथा सुबोधानन्द का भी आगमन हुआ। प्रारम्भिक दिनों में इसे कठोर आर्थिक अभाव झेलना पड़ा। उस काल के संन्यासियों का कठोर साधनामय जीवन तथा पूर्ण ईश्वर-निर्भरता अति प्रेरणादायी था।

आश्रम की स्थापना के कुछ वर्ष पूर्व स्वामीजी के जीवन-काल में ही बीमार वृद्ध-वृद्धाओं की सेवा की दृष्टि से 'रामकृष्ण सेवाश्रम' की स्थापना हुई थी। स्वामीजी ने कहा था, "एक ओर ठाकुर का मन्दिर होगा और दूसरी ओर सेवा-कार्य भी चलता रहेगा। सेवकगण ध्यान-धारणा करके सेवाश्रम के कार्य द्वारा अपने जीवन को धन्य करेंगे।" अद्वैताश्रम की स्थापना के करीब चार वर्ष बाद एक बड़ी जमीन खरीदी गई और उसी पर अगल-बगल में श्रीरामकृष्ण सेवाश्रम और श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम को लाया गया। उन्हीं में से एक आज का श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम है। १९१२ ई. में श्री माँ ने इसी भवन में प्रथम बार पदार्पण किया था। तब मन्दिर में श्री ठाकुर तथा स्वामीजी - दोनों की ही प्रतिमाएँ पूजित होती थीं। श्री माँ का चित्र आले में रहता था। ठाकुर को पुष्पाजलि देने के बाद माँ ने अपने चित्र पर भी पुष्पांजलि देते हुए कहा था - "इस पर भी दो फूल दे दो।" इस समय माँ ने शान्तानन्द जी से कहा था, "काशी तुम लोगों का स्थान है! बेटा, जानते हो साधना क्या है? मन को सदैव उनके पादपद्मों में रखकर उनके चिन्तन में निमग्न रहना। सदा उनके नाम का जप करना।" आश्रम की दूसरी मंजिल बन जाने पर पश्चिम के कोनेवाले कमरे में महापुरुष महाराज रहते थे। इन्हीं दिनों एक बार उन्हें आश्रम में ही बाबा विश्वनाथ का दर्शन प्राप्त हुआ था। क्रमशः उन्हीं की मूर्ति में उन्होंने श्रीरामकृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन किया। अद्वैत आश्रम महापुरुष जी को बड़ा प्रिय था।

बाद में अद्वैताश्रम में चुनार के पत्थर से सुन्दर मन्दिर बना। ठाकुर के अन्तरग शिष्य स्वामी विज्ञानानन्द जी द्वारा बनाए गए नक्से के अनुसार उन्हीं की देख-रेख में मन्दिर का निर्माण हुआ और उसमें श्रीरामकृष्ण की श्वेत सगमर्मर-प्रतिमा स्थापित हुई। उनकी जन्म-शताब्दी वर्ष में उनकी तिथि-पूजा के दिन (२४ फरवरी, १९३६) तत्कालीन संघ के उपाध्यक्ष स्वामी विज्ञानानन्द जी ने बड़े समारोह-पूर्वक इस मन्दिर का उद्घाटन तथा मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा की। मूल मन्दिर की वेदी में एक पात्र में श्रीठाकुर तथा माँ का केश, नख और दाँत रखे गए हैं। श्री माँ, स्वामीजी और महापुरुष महाराज के देहावशेष भी अलग से रखे गये हैं। काशी के प्राचीन मन्दिर के ढाँचे से निर्मित यह मन्दिर सम्पूर्ण रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन का पहला पत्थर का मन्दिर है। मन्दिर उद्घाटन के उपलक्ष्य में काशी के विभिन्न सम्प्रदाय के संन्यासियों ने श्रीरामकृष्ण के आलोकचित्र को लेकर एक साथ एक बड़ी शोभायात्रा निकाली थी और वहाँ के प्रमुख मार्गों की परिक्रमा की थी। बाद में अद्वैत आश्रम में लाटू महाराज का स्मृति-कक्ष, दुर्गा-मण्डप और हनुमान जी के मन्दिर का निर्माण हुआ। मुर्शिदाबाद के सेवाकेन्द्र तथा मद्रास के रामकृष्ण मठ के बाद स्थापित हुआ रामकृष्ण संघ का यह तीसरा केन्द्र अपनी शताब्दी पूर्ण करके श्रीरामकृष्ण-भावधारा एवं वेदान्त-चर्चा के एक महान् साधन-धाम के रूप में स्थित है। ❖❖❖